साहित्य में दिए हुए सूर-सम्बन्धी वृत्त की थोड़े बहुत अन्तर के साथ श्रृंखला मिल जाती है, दूसरे कुछ सामयिक रचनाओं को छोड़ कर सूरदास जी का सबसे अधिक और सबसे पहला उल्लेख इसी वार्त्ता-साहित्य में है। सूर के समकालीन ग्रंथों में उसका वृत्त न तो पर्याप्त मात्रा में है और न निश्चयात्मक रूप में। 'भक्तमाल' में तो सूर-सम्बन्धी केवल एक ही पद है जिसमें सूरदास जी की जन्मान्धता तथा कवित्व का ही उल्लेख है। यह पद इस प्रकार है :—

उक्ति चोज, अनुप्रास, वरन, अस्थिति अतिभारी।
वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी।
प्रतिबिम्बित दिविदिष्टि हृदय में लीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी।
विमल बुद्धि गुन और की, जो वह गुन श्रवननि धरै।
सूर कवित्त सुन कौन जो नहि सिर चालन करै॥

इस ग्रन्थ में बिल्वमंगल, सूरदास, सूरजदास तथा सूरदास मदनमोहन नामक अन्य कवियों का भी उल्लेख है। प्रियादास जी कृत 'भक्तमाल' की टीका में अष्टछापी सूरदास का कोई विवरण नहीं है। हाँ सूरदास मदनमोहन के विषय में उस में विस्तार के साथ लिखा है। वास्तव में ये सूरदास मदनमोहन ही हमारे सूरदास के विषय में विशेष भ्रम उत्पन्न करते हैं। 'आइने अकबरी' और 'मुन्तखिब-उल-तवारीख' में इन्हीं सूरदास मदनमोहन का वृत्तान्त है। चक्षुहीन को सूरदास कहने की प्रथा आज भी चली आती है और वास्तव में सूरदास जी के जीवन-वृत्त के निर्धारण में यह बात भी बड़ी बाधक रही है। बिल्वमंगल सूरदास के विषय में भक्तमाल में लिखा है कि बिल्वमंगल जी कृष्ण के परम कृपा-पात्र तथा मंगल-स्वरूप हैं। उन्होंने 'श्रीकृष्ण-करुणामृत' ग्रन्थ लिखा। भगवान् ने एक बार इनको अपना हाथ पकड़ा कर अवलम्ब दिया और फिर छुड़ा लिया। तब उन्होंने

कहा कि भगवन् ! आप हाथ से चले गए तो क्या हुआ हृदय से आप जायें तब मानूँ । चिन्तामणि वेश्या के सङ्ग से इनकी लौकिक विषय से विरक्ति हुई और उन्होंने व्रज-बालाओं की केलि का अद्भुत वर्णन किया ।

नाम—

महाकवि सूरदास जी का यथार्थ नाम क्या था ? यह भी आज विवाद का विषय बना हुआ है । सम्भवत: सूरदासों की अनेकता ही इस विवाद का मूल कारण है । सूर के पदों में सूर, सूरदास, सूरज, सूरजदास और सूरश्याम ये पाँच नाम आते हैं । आचार्य मुन्शीराम शर्मा सभी नामो को महाकवि सूरदास के मानते हैं । 'सूर-निर्णय' के लेखकों ने 'अष्ट-सखामृत' के आधार पर उनका नाम 'सूरजदास' माना है । 'साहित्य-लहरी' में उनका मूल नाम सूरजचन्द लिखा है । डा० मुन्शीराम जी ने सूर-सुजान, सूरदास और सूरजश्याम आदि नामो को भी प्रामाणिक सिद्ध किया है । बात यह है कि पद-रचना में पाद-पूर्ति या छंदोयोजना के कारण सूरदास जी के नाम में कुछ भी फेर-फार हो गया हो, उनका वास्तविक नाम हमें 'सूरदास' ही लगता है । वार्त्ता-साहित्य में उनको सूर अथवा सूरदास ही कहा गया है और यही नाम उनके जन्मान्धत्व का भी परिचायक है । जन्मान्ध को प्राय यही नाम दिया जाता है । नामों की यह अनेकता भी कहीं-कहीं उनके साहित्य की प्रामाणिकता में बाधा उपस्थित करती है ।

जन्मस्थान—

सूरदास जी की जन्मभूमि के सम्बन्ध में चार स्थानो की प्रसिद्धि है —

(१) गोपाचल या गोपाद्रि (२) मथुरा प्रान्त का कोई गाँव (३) रुनकता और (४) सीही । गोपाचल और गोपाद्रि ग्वालियर के पुराने नाम हैं ।

'साहित्य-लहरी' के वंश-परिचय वाले पद में सूर के पिता का निवास-स्थान गोपाचल माना गया है। स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने ग्वलियर का नाम गोपचल सिद्ध किया है और इसे ही सूर की जन्मभूमि माना है। कवि मियाँसिंह-कृत 'भक्त-विनोद' में सूर की जन्मभूमि के विषय में लिखा है —

"मथुरा प्रान्त विप्र कर गेहा, भो उत्पन्न भक्त हरि नेहा।"

इस पद्य मे यद्यपि किसी स्थान विशेष का उल्लेख नहीं है फिर भी इसके कारण सूर के आलोचकों में पर्याप्त भ्रान्ति रही है। रुनकता को सूरदास जी का जन्मस्थान मानने वाले भी अनेक गण्य-मान्य विद्वान् हैं। प० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास (संस्करण स० १९९० पृष्ठ ५५) में सूर का जन्मस्थान रुनकता लिखा है। डा० श्याम-सुन्दरदास ने भी अपने ग्रन्थ 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (संस्करण स० १९९४ पृष्ठ ३२२) में रुनकता को ही सूर की जन्मभूमि माना है। रुनकता को सूर का जन्मस्थान मानने की भ्रान्ति का कारण संभवत सूरदास जी का गौघाट पर रहना है। रुनकता आगरा से मथुरा जाने वाली सड़क पर एक छोटा सा गाँव है। वहाँ से दो मील की दूरी पर यमुना के किनारे रेणुका जी का स्थान और परशुराम जी का मन्दिर है। यहाँ से कुछ दूरी पर गौघाट है, जहाँ आस-पास बहुत से खण्डहरों के चिह्न हैं। वास्तव में सूरदास जी एक लम्बे समय तक इस स्थान पर रहे थे और इसीलिए इस स्थान की विशेष ख्याति है। वार्ता-साहित्य के अनुकूल सूर का जन्मस्थान सीही है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' की टीका 'भावप्रकाश' में श्री हरिराय जी ने सूर का जन्मस्थान दिल्ली से चार कोस की दूरी पर स्थित सीही ग्राम को बताया था। इस महत्त्वपूर्ण टीका की रचना सूरदास जी के लग-भग सौ वर्ष पश्चात् हुई थी। उससे पहले कहीं भी वार्ता-साहित्य में सूरदास जी के लौकिक जीवन की ओर

संकेत नहीं है। श्री हरिराय जी के समय तक महाकवि सूरदास जी की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी। सम्भवतया इसीलिए उन्होंने उनके सम्पूर्ण जीवन-वृत्त का लिखना आवश्यक समझा। हो सकता है, उनको जो सूचनाएँ मिली हों वे कुछ अतिरञ्जित हों, परन्तु अन्य पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में उन से ही सन्तोष कर लेना पड़ता है। गोकुलनाथ जी के समकालीन प्राणनाथ कवि ने भी 'अष्ट सखामृत' में सूर का जन्म स्थान सीही ही माना है। सीही की स्थिति हरिराय जी ने अपने 'भावप्रकाश' में इस प्रकार वताई है, "दिल्ली के चार कोस उरे में एक सीही ग्राम है जहाँ परिक्षित के वेटा जनमेजय ने सर्प-यज्ञ किया है।" दिल्ली के आस-पास इस सीही ग्राम का आज कहीं पता नहीं है। कहा जाता है कि जहाँ आज नई दिल्ली है वहाँ के छोटे-छोटे गाँव उठा दिए गए थे और वे दूसरे जिलों में जा कर आवाद हो गए, हो सकता है कि सीही भी उन्हीं गावों में से एक हो। वहाँ यद्यपि सूर-सम्बन्धी कोई स्मारक अब विद्यमान नहीं है, तथापि वहाँ के लोगों में यह अनुश्रुति प्रचलित है कि महाकवि सूरदास का जन्म उसी सीही ग्राम में हुआ था। इसके साथ-साथ वहाँ यह भी कथा प्रचलित है कि जनमेजय ने सर्प-यज्ञ उसी स्थान पर किया था। इन दोनों अनुश्रुतियों से 'भावप्रकाश' वाले सीही ग्राम की संगति तो ठीक वैठ जाती है परन्तु दूरी वाली वात का समाधान नहीं हो पाता। दिल्ली के अनेक बार वसने और उजड़ने के कारण भी दूरी में अन्तर आ सकता है। दूसरे दिल्ली से दिल्ली राज्य की भी कल्पना की जा सकती है। तीसरे आज भी दिल्ली के निकटवर्ती ग्रामों की दूरी भ्रामक माप के रूप में प्रचलित है। लेखक का ग्राम दिल्ली से १६ मील की दूरी पर है, किन्तु ग्रामवासी दिल्ली को वहाँ से ६७ कोस ही बताते हैं। वर्तमान 'सीही को सूरदास जी का जन्म-स्थान मान लेने पर 'कवि मियाँसिंह' वाले मत की भी संगति वैठ जाती है। इसलिए सूरदास जी का जन्मस्थान सीही ही ठहरता है।

जन्म-तिथि—

सूरदास जी की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में भी वार्ता-साहित्य मे कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। वास्तव में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूर की कथा का आरम्भ उस समय से होता है जब वे आगरा-मथुरा के बीच गौघाट पर रहते थे। गौघाट पर रहने मे पहले की श्रृंखला हरिराय जी ने अपने ग्रन्थ 'भावप्रकाश' मे मिलाई है। पुष्टि-सम्प्रदाय की मान्यता के अनुकूल सूरदास जी श्री वल्लभाचार्य जी से आयु मे १० दिन छोटे थे। आचार्य जी का जन्म-संवत् १५३५ की वैशाख कृष्णा १० उपरान्त ११ रविवार निश्चित है। इसलिए सूरदास जी की जन्म-तिथि संवत् १५३५ की वैशाख सुदी ५ मङ्गलवार हुई। सम्प्रदाय के अन्य लेखो से भी इस तिथि की पुष्टि होती है। श्री वल्लभाचार्य जी के वंशज श्री गोपिकालङ्कार भट्ट जी महाराज ने भी सूर की जन्म-तिथि का एक पद में उल्लेख किया है :—

> "प्रकटे भक्त-शिरोमणि राय।
> माधव शुक्ला पञ्चमि ऊपर छट्ठ अधिक सुखदाय॥"

श्री द्वारिकेश जी के 'भाव-संग्रह' और श्री गोकुलनाथ जी की 'निज-वार्ता' से भी इस तिथि की पुष्टि होती है। श्री नाथद्वारे में सूरदास जी का जन्मोत्सव श्री वल्लभाचार्य जी के जन्मोत्सव से दस दिन पश्चात् मनाया भी जाता है।

हिन्दी के विद्वानों ने सूरदास जी का जन्म संवत् प्राय १५४० माना है और सभी इतिहासकारों ने इसी को दुहराया है। मिश्रबन्धुओ ने अनुमान से सूर का जन्म सम्वत् १५४० लिखा था, फिर सभी विद्वानों ने उसी को मान्य समझा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'सूर-सारावली' के—गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन—वाले पद के आधार पर सूरदास जी का जन्म सम्वत् १५४० के लगभग तथा निधन

संवत् १६२० मानने वालों ने 'सूर-सारावली' और 'साहित्य-लहरी' की रचना लगभग साथ-साथ ही मानी है और क्योकि 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल 'मुनि पुनि रसन के रस लेखु' वाले पद से सम्वत् १६०७ ठहरता है, इस लिए 'सूर-सारावली' की रचना भी लग-भग इसी संवत् के समीप मान ली गई है। इस समय सूरदास जी की आयु ६७ वर्ष की थी, इसलिए उन का जन्म-सम्वत १५४० अनुमित किया गया है। 'सूर निर्णय' के लेखको ने अन्त. साक्ष्य के आधार पर सूरदास का जन्म-सम्वत् १५३५ ही निश्चित किया है। उन्होने लिखा है कि वल्लभ-सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली के इतिहास की संगति से 'सूर-सारावली' का रचना-काल सम्वत् १६०२ स्पष्ट होता है। उस समय सूर की आयु ६७ वर्ष की थी। १६०२ में से ६७ कम कर देने से १५३५ रहते हैं, अत अन्त साक्ष्य से भी सूरदास जी का जन्म-सम्वत् १५३५ ही सिद्ध होता है।

बड़ौदा-कालेज के संस्कृत के आचार्य श्री भट्ट जी ने महाप्रभु वल्लभाचार्य जी का जन्म-संवत् १५३० माना है। वे लिखते हैं —

"The evidence in support of the year 1473 A. D is earlier and stronger and can easily out-weigh the evidence in support of 1479 A- D. which is decidedly latter and weak."

परन्तु अभी तक भट्ट जी का मत भी मान्य नहीं है, क्योंकि उन की युक्तियाँ तब तक अकाट्य नहीं मानी जा सकतीं जब तक कि वे श्री वल्लभाचार्य जी के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं को इस हेर-फेर के साथ सिद्ध न कर दें। श्री वल्लभाचार्य जी के विषय में अभी तक 'वल्लभ-दिग्विजय' ही प्रामाणिक है और उसमें उनका जन्म-सम्वत् १५३५ ही माना है। इसलिए सूरदास की जन्म-तिथि वैशाख शुक्ल ५ मंगलवार सं० १५३५ ही ठहरती है।

जाति तथा वंश-परिचय—

सूरदास जी की जाति तथा वंश भी विवादग्रस्त हैं। 'साहित्य-लहरी' का सूर का वंश-वृक्ष तथा तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थ इस विषय को और भी उलझा देते हैं। 'साहित्य-लहरी' का ११८ वी संख्या वाला पद सर्व प्रथम 'ब्रह्म-भट्ट-प्रकाश' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ था। सम्वत् १९३५ में भारतेन्दु जी ने अपनी 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' के एक लेख में इस पद पर विचार कर के सूर की वंश परम्परा निश्चित की थी। उन्होंने सूर की वंशावली इस प्रकार निर्धारित की थी।
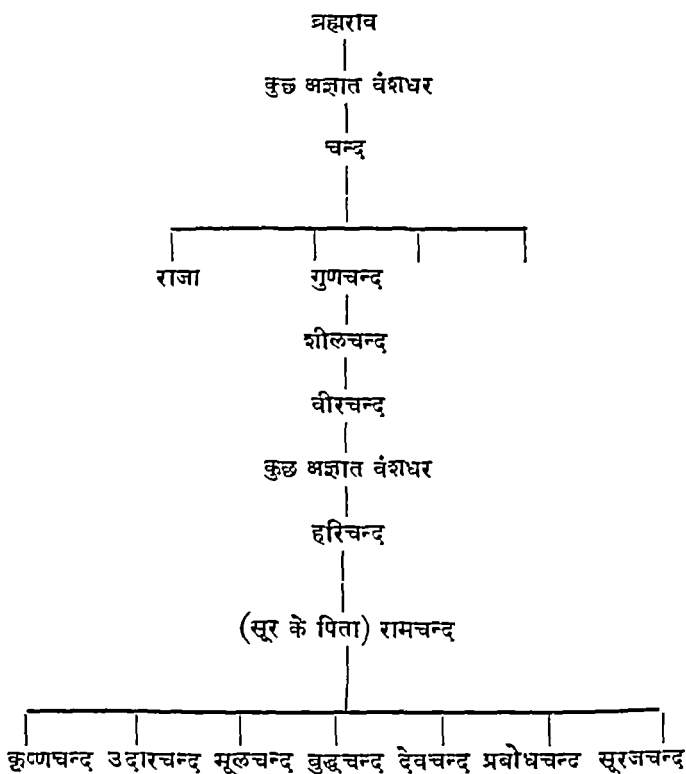
इस वंश-वृक्ष की पुष्टि महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री द्वारा भी की गई। उन्होंने अपनी राजपूताना की यात्रा में चन्द के वंश-वृक्ष का पता लगाया था जो चन्द के वंशधरों की नागौटी शाखा के वर्तमान प्रतिनिधि नानूराम से प्राप्त हुआ था। इस वंश-वृक्ष मे भी सूरदास का नाम है और 'साहित्य-लहरी' के वंश-वृक्ष से बहुत साम्य रखता है। इस वंश-वृक्ष में सूरदास के पिता का नाम रामचन्द्र दिया हुआ है। शास्त्री जी की इस खोज से 'साहित्य-लहरी' के पद को प्रामाणिक मानने वालों को और भी बल मिला और उन्होंने सूर की वंशावली निर्धारित कर डाली। आचार्य मुन्शीराम जी तो यहाँ तक लिख गए कि "पण्डित नानूराम भट्ट से प्राप्त हुई वंशावली के आधार पर महामहोपाध्याय पं हरप्रसाद शास्त्री ने सूर के पिता का नाम रामचन्द्र लिखा है जो वैष्णव-भक्ति के अनुसार रामदास बन जाता है। आर्य-जाति के लिए सच्ची वीरता के आदर्श मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी हैं। सूर के पिता का नाम भी यही था "

तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थों में भी सूरदास जी के पिता रामदास का उल्लेख होने से यह भ्रान्ति और भी दृढ हो गई और इसी को प्रमाणित करने के लिए आलोचको ने अनेक तर्क दिए हैं। डा पीताम्वरदत्त वड़थ्वाल ने 'सूरदास-जीवन-सामग्री' में इसी वात को पूर्णरूप से सिद्ध करने की चेष्टा की है। डा ग्रियर्सन ने भी यही भूल की और अकवरी दरवार के गायक रामदास को ही सूरदास का पिता मान लिया।

सूरदास जी की जाति का निर्णय भी इसी पद के आधार पर किया गया है। चन्द वरदायी भाट थे और उन्हीं के वंशज होने के कारण सूर को भाट मान लिया गया है। डा० व्रजेश्वर वर्मा ने उन्हें ब्राह्मणेतर सिद्ध करने के लिए अन्त साक्ष्य का सहारा लिया है। आचार्य मुन्शीराम शर्मा ने महाकवि चन्द वरदायी को भी ब्राह्मण सिद्ध करके सूर को भट्ट ब्राह्मण ही मान लिया है। वास्तव में सूरदास जी न तो भट्ट ब्राह्मण ही थे और न ढाढ़ी या जगा जाति के थे। भट्ट ब्राह्मण होने का आधार

'साहित्य लहरी' वाला पद है जो अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। ढाढी वाले पद भी जाति-निर्णायक नहीं हो सकते क्योंकि वल्लभ-सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली में राधाष्टमी के दिन ढाढी बनने की प्रथा है। श्रीनाथ जी के सभी कीर्त्तनकार ढाढी वाले बन कर आते थे और तत्सम्बन्धी पदों का गायन करते थे। कृष्णदास, नन्ददास और चतुर्भुजदास आदि सभी भक्तों ने इस प्रकार के पदो की रचना की थी। यदि यह पद जातिपरक मान लिया जाय तो वे सभी ढाढी जाति के ठहरेंगे। सरस्वती-पुत्र से सारस्वत की कल्पना भी दूर की कौडी है। इसलिए वार्ता-साहित्य ही अधिक प्रामाणिक है। उसके आधार पर हमें सूरदास जी को सारस्वत ब्राह्मण ही मानना चाहिए। इस की पुष्टि इस बात से और भी हो जाती है कि दिल्ली के आस-पास सारस्वत ब्राह्मण ही रहते हैं। वास्तव में सारस्वत नाम सरस्वती नदी के कारण पडा है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में सरस्वती नदी पाचाल देश में बहती हुई गंगा नदी में मिलती थी और उसके आस-पास रहने वाले सारस्वत ब्राह्मण कहलाते थे। आजकल भी इस प्रान्त में सारस्वत ब्राह्मणो का ही बाहुल्य है।

सूरदास जी के परिवार विषय में भी अनेक भ्रामक कथन प्रचलित हैं जिनका उद्गम 'साहित्य-लहरी' वाला वही वश-वृक्ष वाला पद है। किसी-किसी अलोचक ने सूर को विवाहित भी माना है। जैसे डाक्टर व्रजेश्वर वर्मा अन्त साक्ष्य के आधार पर उनके गृहस्थ होने की कल्पना कर बैठे हैं। कुछ आलोचक इतने से भी सन्तुष्ट न होकर बिल्वमगल की कहानी के सूत्र में महाकवि सूरदास को गूँथकर उन्हें युवावस्था में प्रेम-पाश-बद्ध होने का उल्लेख करने से भी नहीं हिचकते। तथ्य तो यह है कि भक्त-शिरोमणि सूरदास न तो गृहस्थ ही थे और न ही कभी किसी कामिनी के कटाक्षों से आहत होकर वे प्रेम-पाश में बँधे। यदि केवल सासारिक विषयों के सूक्ष्म यथार्थ एव नग्न वर्णन के कारण ही किसी व्यक्ति को गृहस्थ अथवा प्रेम-पाश-बद्ध करार दिया जा सकता है, तो

संसार की असारता के प्रबल प्रचारक महान् दार्शनिक शंकराचार्य जैसी विभूतियों को भी इस दोष से मुक्त नहीं माना जा सकता। वास्तव में भक्त अथवा साधक कवि की उक्तियाँ स्वान्तः सुखाय होते हुए भी सर्वभूत-हिताय होती हैं, क्योंकि उसके 'स्व' का इतना विस्तार हो जाता है कि वह समस्त विश्व को अपनी सीमा में समेट लेता है। व्यष्टि समष्टि में लीन हो जाता है और वह इस प्रकार की वैराग्य-परक उक्तिया प्रस्तुत करता ह जो सर्वसाधारण की पथ-प्रदर्शिका सिद्ध हो। इस प्रकार के कथन जहाँ एक ओर उसकी स्वयं की भक्ति को दृढ करते हैं, वहाँ दूसरी ओर जन साधारण का कल्याण भी करते हैं। इसलिए इस प्रकार के विरक्ति-परक पद किसी भक्त व साधक के दैन्य, विनय और शील को ही प्रकट करने वाले होते हैं। उनको आधार मान कर उसके जीवन के विषय में कल्पना करना उचित नहीं है।

अन्धत्व—

वार्ता-साहित्य में सूरदास जी को न केवल जन्मान्ध ही माना है बल्कि सलपट अन्ध भी अर्थात् उनके चक्षु नाममात्र को भी न थे केवल कुहर रूप में चक्षु-चिन्ह थे। आज भी इस प्रकार के अन्धे जहाँ-तहाँ दिखाई देते हैं। प्रचलित सूर-विषयक जन-श्रुतियों में सूर के अन्धे होने की बात दुहराई गई है, किन्तु आज के अधिकांश आलोचक उनके विचित्र रूप-वर्णन, अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य का ब्यौरे के साथ संश्लिष्ट चित्रण एवं विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों की अवतारणा को देखकर उन्हें जन्मान्ध मानने के लिए प्रस्तुत ही नहीं हैं। परन्तु इस प्रकार की कल्पना क्रान्तदर्शी सिद्ध महात्मा के सम्बन्ध में उचित प्रतीत नहीं होती, क्योंकि अघटित घटना घटा देने वाले सर्वशक्तिमान् भगवान् के भक्त के सामने सारा संसार हस्तामलकवत् है। ससार के गूढ से गूढ रहस्य को भी वे अपनी दिव्यदृष्टि से अनायास गोचर कर सकते हैं। 'सूर-सागर' से अनेक पद सूर के अन्धत्व में प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जैसे :—

"रास-रस रीति रीति नहि वरनि आवै।
इहै निज मन्त्र, यह ज्ञान, यह ध्यान है, दरस दम्पति भजन सार गाऊँ।
इहै माँगौ वार वार प्रभु सूर के नयन रहौ, नर-देह पाऊँ।"

तथा

कहावत ऐसे त्यागी दानि।
चारि पदारथ दिए सुदामहि, अरु गुरु के सुत आनि॥
रावन के दस मस्तक छेदे, सर गहि सारंग पानि।
लंका दई विभीषन जन कों, पूरवली पहिचानि॥
विप्र सुदामा कियौ अजाची, प्रीति पुरातन जानि।
'सूरदास' सों वहुत निठुरता, नैननि हू की हानि॥

अन्तिम पंक्ति स्पष्टत सूर के अन्धत्व की सूचक है और 'बहुत निठुरता' तो जन्मान्धत्व को ही व्यंजित करती है। निम्नलिखित पद सूर के जन्मान्धत्व को स्पष्ट प्रतिपादन करता है —

किन तेरो गोविन्द नाम धरयौ।
सॉंदीपनि के सुत तुम ल्याये, जब विद्या जाप पढ्यौ॥
सुदामा की दालिद्र तुम काटी, तन्दुल भेंटि धरयौ।
द्रुपद-सुता की लाज तुम राखी, अम्बर दान करयौ॥
जब तुम भये लेवा देवा के दाता, हम सू कछु न सरयौ।
'सूर' की विरीयाँ निठुर होइ बैठे, जन्म-अन्ध करयौ॥

सूर की जन्मान्धता के विषय में सूरसागर से और भी की कई पद उद्धृत किए जा सकते हैं।

इन पदों से यह भी कल्पना की जा सकती है कि इन पदों की रचना के समय सूरदास जी नेत्र-विहीन हो गए हों, पर जन्म से अंधे न हों जैसा

कि प्रायः आधुनिक आलोचकों ने भी माना है। इस प्रकार का वर्णन, रंगों एवं विभिन्न वस्तुओं के चित्रण करने वाले पदों का समाधान तो अवश्य हो सकता है, परन्तु साथ ही साथ सूर की आध्यात्मिक शक्ति की अवहेलना और उपेक्षा भी होती है। यह अनिवार्य नहीं है कि सूर ने जिन वस्तुओं का चित्रण किया है उनका उपयोग भी किया हो या चर्म-चक्षुओं से देखा भी हो। वास्तव में इस प्रकार का वर्णन जिसमें अमूर्त भावों के भी आन्तरिक पक्ष का उद्घाटन किया गया हो, सान्त के प्रसार में झलकते हुए अनन्त का पूर्ण चित्र उपस्थित किया गया हो, मोहान्धकार को भेद कर शान्ति का शुभ संदेश लाने वाली विरक्ति-उषा की अरुण आभा का विकीरण हो, जहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति का मधुर योग हो, विलास और साधना के विकास का सुन्दर विश्वास हो, स्वर्ग और वसुधा का सुन्दर समन्वय हो और मानवता में देवत्व की प्रतिष्ठा हो, केवल दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न महात्मा ही कर सकते हैं। यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए कि जन्मान्ध व्यक्तियों के अन्त करण के नेत्र उन्मीलित हो जाते हैं और वे अन्तर्जगत् से बाह्य जगत् का साक्षात्कार करने लगते हैं। आज भी ऐसे व्यक्ति देखे जाते हैं जिनका जन्मान्धत्व प्रत्यक्ष प्रमाणित है और जो अपनी क्रियाओं से नेत्रवान् व्यक्तियों को भी आश्चर्यचकित कर देते हैं। फिर सूर तो सूर थे जो भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर चुके थे। प्रकाशमय आराध्य में विलीन होकर स्वयं तेजोमय हो चुके थे, फिर उनके लिए संसार में क्या वस्तु अप्रकाशित रह जाती। इस लिए पाश्चात्य भौतिकवाद और जडवाद से प्रभावित होकर भारतीय ब्रह्मज्ञान के महत्त्व को कम करना ठीक नहीं है।

वैराग्य तथा सम्प्रदाय-प्रवेश--

हरिराय जी के 'भावप्रकाश' के अनुकूल सूरदास जी अपने पिता के चौथे पुत्र थे। जन्मान्ध पुत्र की उत्पत्ति से निर्धन ब्राह्मण को बड़ा कष्ट हुआ और वे उसे दैवी आपत्ति के रूप में मानने लगे। जब सूरदास जी की छ वर्ष की आयु हुई, तो सूरदास जी के घर से एक कपड़े में बँधी

हुई दो मुहरों को एक चूहा ले गया जिससे उनके माता-पिता को घोर कष्ट हुआ। उनको दुःखी देख कर सूरदास जी ने कहा कि मैं उन मुहरों का पता बतला सकता हूँ यदि मुझे घर छोड़ने की आज्ञा दे दी जाय। दुःखी और विवश माता-पिता को यह शर्त मान लेनी पड़ी और उन्होंने उन दो मुहरों का पता बतला दिया। इस घटना से सूरदास के माता-पिता बड़े चमत्कृत हुए और पुत्र से प्रेम करने लगे। परन्तु सूरदास जी की मुहर बताने की यही शर्त थी कि वह उसके पश्चात् घर में नहीं रहेंगे। माता-पिता के आग्रह करने पर भी वह घर में न रहे और वहाँ से चार कोस दूर एक तालाब के किनारे रहने लगे, वहाँ भी जब उन्होंने एक ब्राह्मण जमींदार को उसकी खोई हुई गाय बता कर चमत्कृत कर दिया तो उस जमींदार ने उसी गाँव में तालाब के किनारे पीपल के वृक्ष के नीचे एक झोंपड़ी बना दी। सूरदास जी इसी झोंपड़ी में रह कर सगुन बताने लगे। कुछ ही दिनों में उनके अनेक सेवक हो गए। झोंपड़े के स्थान पर अच्छा घर बन गया। गाने-बजाने का सब प्रबन्ध हो गया और वस्त्र, द्रव्य आदि वैभव से वह स्थान पूर्ण हो गया। सूरदास जी विरह के पद वहाँ सेवकों को सुनाते थे। १८ वर्ष की आयु तक उनका यही क्रम चलता रहा। एक दिन उन्हें विरक्ति हुई और अपना सब वैभव अपने माता-पिता को सौंप कर केवल एक वस्त्र और छड़ी लेकर वहाँ से चल दिए। वहाँ से चल कर वह मथुरा में विश्राम घाट पर पहुंचे, परन्तु उस स्थान को भी उपयुक्त न समझ कर मथुरा और आगरा के बीच 'गौघाट' पर यमुना के किनारे रहने लगे। इस प्रकार सूर गौघाट पर 'भावप्रकाश' के आधार पर सं० १५५३ के लगभग आए होंगे। उनकी प्रतिभा ने उन्हें वहाँ भी दूर-दूर तक प्रसिद्ध कर दिया। गौघाट पर आने के बहुत दिन पश्चात् एक दिन महाप्रभु वल्लभाचार्य ब्रज से "अड़ैल" जाते हुए 'गौघाट' पर रुके और यहीं उनकी सूरदास जी से भेंट हुई। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने सूर को भगवद्-यश वर्णन करने का आदेश दिया। प्रभु के महत्त्व और अपने दैन्य को लक्ष्य

करके अन्धे सूर ने 'हौं हरि सब पतितन को नायक' तथा 'प्रभु हौं सब पतितन को टीका' पदों की मधुर ध्वनि के साथ अपनी वीणा के तारों में स्पन्दन भरा। इन पदों से पता चलता है कि उस समय सूरदास भक्ति-मानसरोवर के तट पर तो पहुँच चुके थे और उसकी तह में मुक्ताओं को टटोलने के लिए भी उत्सुक थे किन्तु कदाचित् किसी अनुभवी गोताखोर की अपेक्षा रखते थे। संभवतः इसी लिए महाप्रभु ने उनसे कहा—"सूर ह्वै कै ऐसे काहे को घिघियात है कछु भगवत-लीला वरनन करि।"

आचार्य जी के इस महावाक्य ने सूर के जीवन की धारा को परिवर्तित कर दिया। उन्होंने स्नानादि से निवृत्त होकर तत्काल ही महाप्रभु से गुरु-मंत्र लिया और पुष्टि-मार्ग में दीक्षित होकर अपने समस्त दोषों का निवारण कर नवधा-भक्ति की प्राप्ति की। वे निर्द्वन्द्व होकर भक्ति-मानस में अवगाहन करने लगे, जिसके फलस्वरूप उन्हें वह दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई जिससे वे प्रभु की समस्त लीलाओं के दर्शन का आस्वाद पाने में समर्थ हुए। भागवत के दशम स्कन्ध की 'सुबोधिनी' के मंगलाचरण की प्रथम कारिका का पाठ कर तत्क्षण ही उनके भक्ति-रस-पूरित कलकण्ठ से गीत की मधुर धारा बह निकली—

"चकई री चलि चरण सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग"

सचमुच वे उस चरण-सरोवर पर पहुँच गए जिससे निर्गत मन्दाकिनी आज भी अपने पूत प्रवाह से समस्त विश्व को पवित्र कर रही है, जहाँ निःसार होकर भी संसार ससार है, बन्धन है पर बाधक नहीं, स्पन्दन है किन्तु हलचल नहीं, द्वन्द्व का अनुभव होता है किन्तु निर्द्वन्द्वता के साथ। भक्त के हृदय के कपाट तो खुल गए किन्तु भगवान् वहीं बन्द हो गए। महाप्रभु को विश्वास हो गया कि सूर अब वास्तव में सूर हो गए। ऐसे सूर जिसके जोड़ का और कोई नहीं, जिसकी ज्योति शाश्वत है और इसका प्रमाण भी उन्हें मिल गया जब सूरदास ने गाया :—

'व्रज भयो महर के पूत, जब यह वात सुनी'

इसके अनन्तर आचार्य जी ने सूरदास जी के सब सेवको और शिष्यों को सम्प्रदाय में दीक्षित कर लिया। उन्होंने सूरदास जी को पुरुषोत्तम सहस्रनाम सुनाया जिससे उन्हें सम्पूर्ण भागवत का स्फुरण होगया, और उन्होंने भागवत के प्रथम स्कन्ध से द्वादश स्कन्ध तक की कथा को पदवद्ध करना आरंभ किया। अब सूरदास परम भगवदीय हो गए और आचार्य जी के साथ उन्होंने पदार्पण किया।

श्री गोकुलनाथ जी के दर्शन मात्र से ही उनके हृदय में भगवान् की बाल-लीला का स्फुरण हुआ और उन्होने :—

'शोभित कर नवनीत लिए' वाले पद की रचना की। सूर की इस अलौकिक प्रतिभा का अवलोकन कर महाप्रभु जी बहुत प्रसन्न हुए। उनकी कीर्त्तन-शैली, संगीत एवं कवित्व पर मुग्ध होकर महाप्रभु जी ने उन्हें श्रीनाथ जी के कीर्त्तन का काम सौंपा। श्रीनाथ जी के दर्शन कर मानों सूरदास जी को भगवान् का साक्षात्कार हो गया। उन्हें सच्ची शान्ति की प्राप्ति हुई, अब भगवच्चरण का परित्याग कर भला वे कहाँ जाँय? सूरदास जी श्रीनाथ जी की सेवा में लग गए। महाप्रभु ने अपने सम्प्रदाय का स्वरूप, भगवान् का माहात्म्य और व्रज-भक्तों का स्नेह सूरदास जी को सुनाया और तब से सूरदास जी कीर्त्तन के मण्डान कार्य में दत्तचित्त हो गए।

सूरदास जी के सम्प्रदाय-प्रवेशकाल के सम्बन्ध में भी कुछ वाद-विवाद है। वार्त्ता-साहित्य में आई हुई घटनाओं से यही सिद्ध होता है कि सूरदास जी लगभग ३२ वर्ष की आयु में सम्प्रदाय में दीक्षित हुए और अन्तिम काल तक सम्प्रदाय की सेवा करते रहे।

वार्ता-सहित्य में सूरदास जी से सम्बन्ध रखने वाली और भी कई घटनाओं का वर्णन है जिनमें सूरदास जी के कुछ चमत्कार आते हैं।

सूरदास जी के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाएँ

सूर-अकबर-मिलन—

यद्यपि महात्मा सूरदास जी व्रज को छोड़ कर अन्यत्र जाने में बहुत हिचकते थे फिर भी उनके विषय में इधर-उधर जाने की कुछ जन-श्रुतियाँ प्रचलित हैं जिन की प्रामाणिकता अभी सन्देह के गर्त में विलीन है। 'सूरदास की वार्ता' प्रसंग तीन में उनकी अकबर बादशाह के साथ भेंट का उल्लेख मिलता है। अकबर सदृश्य उदार, सहिष्णु एवं कला-प्रेमी व्यक्ति की सूरदास जैसे महात्मा भक्त कवि के प्रति श्रद्धा होना स्वाभाविक था, किन्तु सूरदास के हृदय में अपने उपास्य के अतिरिक्त और किसी का स्थान न था। 'प्रेम गली अति साँकरी वा में दो न समायँ'। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार दिल्ली से आगरा जाते समय अकबर सूरदास जी से मिला था। किम्वदन्ती है कि अपनी सभा के प्रसिद्ध गायक तानसेन द्वारा सूरदास के एक पद के रस का आस्वादन कर अकबर सूर से मिलने के लिए लालायित हो उठा और उसने उनसे भेंट की भी। सूरदास जी ने अकबर के सामने जो पद गाए उनका उल्लेख सूरदास की तीसरी वार्ता में हुआ है। उनका पहला पद था—

"मना रे तू करि माधव से प्रीति।"

जब सूरदास जी से अकबर के विषय में कुछ गाने के लिए कहा गया तब उन्होंने यह पद गाया :—

"नाहिन रह्यौ मन में ठौर"

अकबर के हृदय पर सूर की निर्भीकता और भक्ति-भावना का बड़ा गम्भीर प्रभाव पड़ा। सूर और अकबर की यह भेंट कब हुई, इसका कोई निश्चित समाधान अभी तक नहीं हो पाया। डा० दीनदयालु गुप्त जी का

अनुमान है कि अकबर सूर से सन् १५७४ ई० व सन् १५८२ ई० के बीच में मिला होगा। 'सूर-निर्णय' के लेखकों ने इस भेंट को १५६६ ई० में मथुरा में माना है, जब कि डा० व्रजेश्वर वर्मा सन् १५७५ ई० के पश्चात् मानते हैं। ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर यही समीचीन प्रतीत होता है कि यह भेंट सन् १५७५ ई० और सन् १५८२ ई० के बीच हुई होगी।

सूर-तुलसी-मिलन—

सूर और तुलसी की भेंट का उल्लेख भी कतिपय ग्रन्थों में हुआ है। 'मूल गुसाईं चरित' में लिखा है कि सम्वत् १६१६ में श्री गोकुलनाथ जी की प्रेरणा से सूरदास जी तुलसीदास जी से चित्रकूट पर मिले। इसके विपरीत 'प्राचीन वार्ता साहित्य' में यह कथन है कि तुलसीदास जी जब अपने भाई नन्ददास जी से मिलने व्रज में आए उस समय पारसौली गाँव में उनकी सूरदास जी से भेंट हुई। सूर के जीवन की घटनाओं को देख कर 'प्राचीन वार्ता' का रहस्य ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

गोलोक-वास—

सूर के गोलोक-वास के सम्बन्ध में भी बहुत अधिक मतभेद है जिसके कारण उनकी निधन-तिथि सम्वत् १६२० से सम्वत् १६४२ तक दोलायमान है। मिश्रबन्धुओं ने सूर का निधन सवत् १६२० ही माना है और आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल जी ने भी उसी को स्वीकार किया है। परन्तु जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं सूर और अकबर की भेंट सवत् १६३१ से पहले संभव नहीं है। इसलिए उनका गोलोक-वास सम्वत् १६३१ के पश्चात् ही मानना चाहिए। कृष्णदास द्वारा रचित जो वसंत-विषयक प्रसिद्ध पद है उसमें सूरदास जी के साथ गोसाईं जी के सप्तम पुत्र घनश्याम का भी उल्लेख है जिसका जन्म वल्लभ-वंश-वृक्ष के अनुसार सवत् १६२८ में

हुआ। यदि वसंतोत्सव के समय उनकी आयु सात वर्ष की भी मानी जाय तो सूरदास जी का पता सम्वत् १६३५ तक चल जाता है। 'वार्ता-साहित्य' के अनुसार सूरदास जी की मृत्यु के समय गोसाईं विट्ठलनाथ जी जीवित थे और गोसाईं विट्ठलनाथ जी का तिरोधान फाल्गुन कृष्ण सप्तमी १६४१ को हुआ। इस लिए सूरदास जी का काल संवत् १६४२ से आगे नहीं जाता, और हमें 'भाव प्रकाश' के आधार पर उनका देहावसान संवत् १६४० के लगभग ही मानना पड़ेगा।

सूरदास जी की वार्ता के छठे प्रसंग मे उनके अन्तिम समय का वर्णन है। सूरदास जी को नित्य कीर्त्तन करते समय जब यह भास गया कि उनका अन्तिम समय निकट है तो वे अपने निवास-स्थान पारसौली में आए और श्रीनाथ जी की ध्वजा को दण्डवत् कर ध्वजा की ओर मुख करके लेट गए, परन्तु उनके अन्तःकरण में महाप्रभु विट्ठलनाथ जी के दर्शन की अभिलाषा बनी रही। इधर जब गोसाईं जी ने सूरदास जी को कीर्त्तन करते नहीं देखा तब उनके विषय में उन्होंने पूछ-ताछ की और समय से पहले सूरदास जी के चले जाने की बात सुन कर गोसाईं जी को खटक गया कि अब उनका अन्त-समय आ गया है, और वे आरती आदि से निवृत हो कर कुंभनदास, चतुर्भुजदास को साथ ले कर पारसौली पहुँच गए। गोसाँईं जी के आने की बात सुनकर सूरदास जी को होश आ गया और उन्होंने गद्गद् हो कर यह पद गया —

देखो-देखो जू हरि कौ एक सुभाइ।
अति गम्भीर उदार, उदधि हरि जान सिरोमणि राई॥

इस पद को सुन कर गोसाईं जी अपने भक्त के मर्म को समझ गए कि वह गुरु और श्रीकृष्ण में कुछ अन्तर नहीं समझता। फिर चतुर्भुजदास जी ने जब आचार्य महाप्रभु के यशोवर्णन के लिए सूरदास जी से कहा तो

गुरु-गोविन्द में समान भाव रखने वाले भक्त-प्रवर सूरदास जी ने यह पद गाया —

भरोसो दृढ़ इन चरननि केरौ।
श्री वल्लभ नख-चन्द्र छटा बिनु सब जग माझि अँधेरौ॥
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निवेरौ।
सूर कहा करै दुविधि आंधरो, बिना मोल को चेरौ॥

इस पद को गा कर वे मूर्छित हो गए, फिर जब गोसाईं जी ने उनसे उनकी चित्तवृत्ति के विषय में पूछा तो उन्होंने यह पद गाया :—

खजन नैन सुरँग रस माते।

इसके पश्चात् उन्होंने इहलीला समाप्त कर दी।

द्वितीय अध्याय

सूर-साहित्य की पृष्ठभूमि

भक्ति-आन्दोलन का सामान्य-विवेचन—

महाकवि सूरदास के साहित्य-महोदधि का मन्थन वास्तव में अत्यन्त दुस्तर कार्य है। विभिन्न युगों के अभेद्य-स्तरों के बीच से मन्द-मन्द किन्तु अव्याहत गति से बहती हुई, अनेक दिशाओं से उल्टी-सीधी बह कर आने वाली विविध विचारधाराओं को आत्मसात् करती हुई, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की सिद्धान्त-सार-सुधा से प्राणियों के अन्त करण को तृप्त करती हुई भारतीय साधना की मन्दाकिनी ने इस सागर को लबालब भर दिया है कि उसमें मग्न होकर भी तह तक पहुँचना सरल कार्य नहीं है। सूर-साहित्य की पृष्ठभूमि भारत के मध्यकालीन युग का इतिहास है, जिसमें वह महान् और व्यापक आन्दोलन अन्तर्हित है, जिसने ऐसी अनेक भावनाओं को जन्म दिया, जो एक ओर तो मानवता के क्षेत्र को विस्तृत करने वाली हैं तथा दूसरी ओर अनेक संकीर्णताओं को उत्पन्न करती हैं। इस आन्दोलन का समुचितरूप से व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध न होने के कारण अनेक भ्रान्त धारणाओं का प्रचार होता रहा है। भारतीय इतिहास में तो यह 'मध्यकालीन' शब्द नया-सा ही है परन्तु यूरोपीय इतिहास में Medieval Period सन् ४७६ से सन् १५५३ तक माना जाता है। इस काल में कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का उदय हो गया था जिनके कारण उत्तरोत्तर अन्धविश्वास का विकास और तथ्य-जिज्ञासा का ह्रास होता गया। केवल यूरोप में ही नहीं विश्व के समस्त देशों मे—समस्त सम्प्रदायों और समाजों में—इस मनोवृत्ति का महान् प्रभाव पड़ा था, जिसने इतिहास का स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया, फिर भारत इसका अपवाद कैसे रह जाता?

भारतवर्ष के 'गुप्त-युग' को इतिहास-कारों ने स्वर्ण-युग का नाम दिया ही है, किन्तु खेद है कि दूसरी एवं तीसरी शताब्दियों के उत्कर्ष के बहुत कम चिह्नावशेष आज प्राप्त हैं, जिससे अनेक यूरोपीय विद्वानों ने भ्रमवश इस युग को 'अन्धकार-युग' घोषित कर डाला। वस्तुत यह नामकरण तर्क-संगत नहीं है, क्योंकि इस काल में धर्म, दर्शन, नीति और साहित्य-विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना हुई तथा अनेक ऐसे सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने परवर्ती भारतवर्ष को कई रूपों में प्रभावित किया। सन् ३२० में गुप्त-साम्राज्य की स्थापना के साथ भारतीय इतिहास में और भी अधिक स्फूर्ति का युग आया, संस्कृत-भाषा ने नई शक्ति प्राप्त की और समूचे देश में एक नवीन प्रकार की जातीयता की लहर दौड़ गई। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसी क्रान्ति हुई कि हमारे सोचने-विचारने, देखने-सुनने का ढंग ही बदल गया और ऐसा बदला कि आज भी उसका प्रभाव हमारे धर्म, दर्शन, समाज, आचार-विचार और रीति-रिवाज पर स्पष्ट लक्षित होता है। बहुत से पुराण और स्मृतियों की रचना भी सम्भवत इसी युग में हुई थी।

छठी शताब्दी में भारतवर्ष में उस युग का सूत्रपात हुआ, जिसे हम यूरोपीय ऐतिहासिकों की परिभाषा में 'मध्य-युग' कह सकते हैं। इस काल की धर्म-साधना अनेक प्रभावों का समन्वित रूप कही जा सकती है। छठी शताब्दी से ११—१२वीं शताब्दी तक का साहित्य बड़ा व्यापक है, परन्तु इसमें साम्प्रदायिकता की पूरी-पूरी छाप है। जहाँ एक ओर बौद्धों और जैनों का अपने-अपने अस्तित्व के लिए भरसक प्रयास है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे तत्त्वों का भी अभाव नहीं, जिन का परिपाक अन्ततोगत्वा ध्वंसात्मक ही होता है। वैष्णव-सम्प्रदाय में भी यत्र-तत्र इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार होता है। इन विविध मत-मतान्तरों के झमेले में पड़ कर राजनीति की भी ऐसी दुर्दशा हुई कि उस का रूप तो विकृत हुआ ही, स्वतन्त्र रूप से पृथक् चला आता हुआ व्यक्तित्व भी समाप्त-प्राय. हो गया, और वह

साम्प्रदायिकता के हाथो में खेलने लगी। इस काल में एक ऐसी परम्परा सी चली, जिसका आधार वैदिक और अवैदिक भावनाओं के मूल में केन्द्रित हुआ, परन्तु जहाँ अवैदिक सम्प्रदायों में वृद्धि हुई वहाँ वेद को ही अन्तिम प्रमाण मानने वाले धर्म-मतों और दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या भी एक दो ही नहीं रही। मत-वैभिन्न्य तथा विश्वास-वैचित्र्य होते हुए भी विभिन्न सम्प्रदाय अपने आप को श्रुति-सम्मत मानते थे। जिस प्रकार अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि अनेक परस्पर-विरोधी मत श्रुति को ही अपनी आधारशिला बतलाते हैं,. उसी प्रकार शैव, शाक्त, पाशुपत, गाणपत्य, सौर आदि सम्प्रदाय भी अपने आप को वेद-विहित कहते हैं। दसवी-ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी तक के युग को मध्यकालीन युग का उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है। यह युग समन्वय की भावना को लेकर चला। एक ओर तो सगुण-धारा के भक्त कवियों ने विभिन्न वैष्णव-सम्प्रदायों के पारस्परिक वैमनस्य को दूर कर शैव, शाक्त आदि अन्य सम्प्रदायों से भी सम्बन्ध जोड़ा, दूसरी ओर सन्त कवियों ने अपनी अन्त साधना के बल पर मानव-मन की शाश्वत प्रवृत्तियों का सपरिष्कार उद्रेक कर ऐहिकता की भर्त्सना की और निर्जीव हृदयों में ऐसी चेतनता भरी जिससे निराशा के मेघ हट गए और आशा की सुनहली रश्मियों का आलोक बिखर गया। इन कवियों का व्यक्तित्व ही समन्वयात्मकता की आधार भूमि पर खड़ा था। अक्खड़ता की परिधि को छूता हुआ आत्म-गौरव, दीनता के अंक में क्रीड़ा करती हुई नम्रता, संसार के कठोरतम संघर्ष से जूझने की प्रस्तर तुल्य दृढ़ता के साथ अपनी निरीहता पर नवनीत सम पिघलने वाली कोमलता, सब का समन्वय वास्तव में आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है। जनता के हृदय का वास्तविक प्रतिनिधित्व करने वाले इन कवियों ने उसके मनोभावों को ऊँचा उठाने में नि.सन्देह भगीरथ प्रयत्न किया। तेरहवीं शताब्दी के अनन्तर इन सन्त भक्तो ने उत्तरी भारत में अपना प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया और

समाज की परिस्थितियों के अनुकूल १७वीं शताब्दी तक विभिन्न प्रकार से समाज की सेवा करते रहे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस काल को भक्ति-काल की संज्ञा दी है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस युग को भक्ति का विशिष्ट युग माना है। डा० ग्रियर्सन ने इस आन्दोलन के विषय में लिखा है कि यह आन्दोलन विजली की चमक के समान सारे भारत में फैल गया। डा० ग्रियर्सन ने इस आन्दोलन का सम्बन्ध मध्य युग के मर्मी ईसाइयों से लगाया है और इसे ईसाइयत की देन वताया है। डा० ग्रियर्सन का यह कथन स्वाभाविक ही है, क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों की प्राय यह परम्परा रही है कि जो कुछ भी वे भारत में स्पृहणीय देखते हैं, उसका सम्बन्ध यूरोप से अवश्य जोडते हैं। इसे उनकी अहमन्यता अथवा विकृत-देश-भक्ति ही कहा जा सकता है। अस्तु इस में सन्देह नहीं कि मध्य युग के इतिहास में यह आन्दोलन वेजोड अवश्य कहा जा सकता है। यह आन्दोलन उत्तरोत्तर जोर पकडता गया और पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में यह प्रवाह सिमट कर व्रज भूमि में प्रवाहित होने लगा और मानव-मात्र के मन के मैल को काट कर अनिर्वचनीय आनन्द का प्रसार करने लगा। अतएव डा० ग्रियर्सन का यह कथन कि अकस्मात् विद्युत्-लेखा के समान यह आन्दोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गया, सत्य-सा ही है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस युग को हम भारतीय संस्कृति की पराजय का युग भले ही मान लें परन्तु मानव संस्कृति की दृष्टि से इस के महत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सकते क्योंकि इस युग में विभिन्न सस्कृतियों और धार्मिक साधनाओ का मानवता के धरातल पर समन्वय हुआ। इस विषय पर आचार्य क्षितिमोहन सेन की 'भारतीय-मध्य-युगीन साधना' डी० सी० सेन का 'बग भाषा और साहित्य' पाश्चात्य विद्वान् कर्न (Kern) का Mannual of Budhism तथा डा० ग्रियर्सन, कीथ आदि के लेख पठनीय हैं।

इस भक्ति-आन्दोलन के सूक्ष्म अध्ययन से हमें वे सारे प्रभाव लक्षित हो जाते हैं जो उसके मूल में हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी तथा भक्त कवि सूरदास इस युग के सामञ्जस्यवादी प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने समाज के धरातल पर मानवता का उद्घाटन किया तो सूरदास ने व्यक्तिगत साधना को महत्त्व देकर मानव हृदय के चिरन्तन समान भावों का स्पर्श किया। यही कारण है कि इस आन्दोलन की प्रेरणाओं की जितना स्फुट प्रतिबिम्ब तुलसी के काव्य में लक्षित होता है, उतना सूर की कृतियों में नहीं। पुष्टि सम्प्रदाय के विवेचन में हम बतलाएँगे कि किस प्रकार इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने लौकिक वासनाओं और ऐहिक ऐषणाओं को परब्रह्म स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण में लगा कर उन्हें पवित्र बनाने का विधान रक्खा था। संसार के संघर्ष से दूर, कल-कल ध्वनि से कूलस्थ कुञ्जों को निनादित करने वाली कालिन्दी के सुरम्य तट पर, करीर के कुञ्जों में मन्द पवन से आन्दोलित वल्लरियों के झुरमुटों में उठती हुई मुरली-ध्वनि को सुन कर, राधा और कृष्ण की कल-केलि का साक्षात्कार करते हुए अन्धे सूरदास केवल समाज को ही नहीं, अपने अस्तित्व को भी भूल जाते थे, स्वयं राधाकृष्ण मय हो जाते थे, संसार में उन्हें अपने आराध्य-युगल का ही रूप दीख पड़ता था। कबीर का 'फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना' वाला वाक्य चरितार्थ हो गया। यही कारण है कि सूर के काव्य में सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव उतना नहीं दीख पड़ता, जितना तुलसी के काव्य में। फिर भी उसका सर्वथा अभाव नहीं है। सूरदास जी के साहित्य का अध्ययन करने के लिए जहाँ हमें भक्ति आन्दोलन की धार्मिक पृष्ठभूमि का ज्ञान अपेक्षित है, वहाँ तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों की जानकारी भी उपेक्षणीय नहीं। १५वीं और १६वी शताब्दी में भक्ति का जो समन्वितरूप जनता के समक्ष प्रस्तुत हुआ वह अनेक प्रभावों का फल कहा जा सकता है।।

वैदिक काल से चली आती हुई भक्ति की वह अजस्र धारा जो उपनिषदों, ब्राह्मणग्रन्थों, स्मृतियों और पुराणों के मार्ग से बहती हुई अपना रूप और मार्ग बदल चुकी थी इस भक्ति आन्दोलन के महा-प्रवाह में विलीन हो गई। बौद्धों और जैनों की वह धर्म साधाना, जो अहिंसा को परमधर्म मान कर चली थी, मायिक जजालों में फँस कर अपने मूल-स्वरूप को विस्मृत कर चुकी थी। बौद्धों ने तो प्रतिहिंसा के रूप में हिंसा-वृत्ति को भी अपना लिया था। धर्म-साधना के इस विकृत-रूप का भी भक्ति आन्दोलन पर विशेष प्रभाव पड़ा।

इसके अतिरिक्त सब से अधिक प्रभाव, इस आन्दोलन पर दक्षिण के उन आडवार भक्तों का पड़ा, जिनकी भक्ति-भावना सच्चे हृदय की प्रतीक थी और जो लोक गीतों और ग्रामीण भजनों में प्रस्फुटित होती हुई दक्षिण प्रान्त के दिग्गज आचार्यों के सम्प्रदायों के सिद्धान्तो का मूल कारण बनी। हम पहले कह चुके हैं कि शैव, शाक्त, पाशुपत, गाणपत्य, सौर आदि सम्प्रदाय भी अपने को वेद-विहित ही मानते थे, और अपना मूल वेदो से ही सिद्ध करते थे। इन सम्प्रदायों का भी भक्ति-आन्दोलन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इन सबसे बढ़कर नाथ-योगी सम्प्रदाय, जो अपने को शव सिद्ध करता है और इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तक आदिनाथ को शिव ही मान कर उसका सम्बन्ध ऋग्वेद से स्थापित करता है, इस भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठ भूमि में महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाला है। इन भारतीय सम्प्रदायों और मत-मतान्तरो के अतिरिक्त मुसलमानों—विशेषकर सूफियों की वह एकान्त प्रेम साधना, जो ज्ञान और उपासना का समन्वय उपस्थित करती हुई सच्चे हृदय की प्रेरणा के रूप में हमारे सामने आई, भारतीय धर्म-साधना को प्रभावित कर रही थी। इन विभिन्न प्रवाहों को आत्म-सात् करता हुआ भक्ति का वह विपुल प्रवाह १६वीं शताब्दी तक इतना विशाल और अतल स्पर्शी हुआ, जिसमें सारा समाज आकण्ठ निमग्न हो गया।

ईसा की तीसरी शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक यह भक्ति आन्दोलन प्रबल वेग से बढ़ता रहा, इसी को मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन कहा जाता है। इस युग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ श्रीमद्भागवत है जो अब तक भी वैष्णव-भक्ति-भावना पर अतुल प्रभाव डाल रहा है। अधिकांश पुराणों की रचना का समय भी ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर ईसा की छटी शताब्दी पर्यन्त माना जाता है। इसलिए इस युग को इतिहासकार 'पौराणिक युग' भी कहते हैं। इस युग में वैदिक-धर्म के पुनरुद्धार का अथक प्रयास किया गया और बौद्ध तथा जैन-धर्म के प्रभाव में आकर प्राकृतिक वस्तुओ के प्रतीक देवताओ की सृष्टि हुई। तीर्थंकरों और बोधि-सत्वों के अनुकरण पर भगवान् के विभिन्न अवतारों की कल्पना की गई तथा भिन्न-भिन्न देवताओ की मूर्तियों का निर्माण हुआ। इतना ही नहीं, इस उपासना-पद्धति में तांत्रिक प्रणाली का भी समावेश हुआ और योग-साधना के भी कतिपय तत्व स्वीकार किए गए। भक्ति सिद्धान्तों के निरूपण के लिए प्राकृत और पाली के स्थान में संस्कृत का आश्रय लिया गया, अनेक सम्प्रदायों का जन्म हुआ और सब ने अपने काल्पनिक सिद्धान्तों के आधार पर उन मूल ग्रन्थों पर अनेक टीकाएँ लिखकर अपनी मान्यताओं से उनका सामञ्जस्य स्थापित किया। इन सम्प्रदायो में मुख्य रूप से चार-पांच सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं —

१ अद्वैत—प्रवर्त्तक शंकराचार्य।

२. विशिष्टाद्वैत—प्रवर्त्तक रामानुजाचार्य।

३ द्वैत—प्रवर्त्तक मध्वाचार्य।

४ शुद्धाद्वैत—प्रवर्त्तक वल्लभाचार्य।

५. चिन्त्याचिन्त्य—(गौराङ्ग महाप्रभु)।

ये सम्प्रदाय दक्षिणी आचार्यों की देन कहे जाते हैं। दक्षिण के आचार्यों ने उत्तरी भारत के भक्ति आन्दोलन में कितना और कैसा योग दिया ?

इस विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो भक्ति साधना पहले सीधे-सादे स्तुति गान और पशु-बलि से प्रारम्भ हुई थी, उसमें उत्तरोत्तर भेद की भावना दृढ़ होती गई और अभेद की भावना का ह्रास चलता रहा। इस विविधता का परिणाम यह हुआ कि अनेक प्रकार के वर्ग, फिर्के और सेक्ट (Sect) स्थापित हो गए तथा व्यक्ति धार्मिक बन्धनों में इतना जकड़ गया कि उसे स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन यात्रा करने में भी प्रगति करना दूभर हो उठा। उसके सकल क्रिया-कलापों पर धर्म का अंकुश रहने लगा और शनै-शनै अन्ध-विश्वासों के कारण दृष्टिकोण नितान्त संकुचित हो गया, जिससे पारस्परिक वैमनस्य, घृणा और द्वेष भाव ही बढ़े। राजनीति में भी धर्म को इतनी बुरी तरह उलझाया गया कि धर्म के नाम पर वह भयंकर नर-संहार के महापाप की भागिनी बनी जिसके स्मरण मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। विश्व के सभी देशों में जिहाद (धर्म-युद्ध) को प्रोत्साहन मिला और धार्मिक अराजकता का ऐसा चक्र चला जिसके नीचे निरपराध भोली-भाली जनता बुरी तरह पिस गई। आखिर हर एक वस्तु की कोई सीमा होती है, समय ने पल्टा खाया, जनता अन्धविश्वास के वातावरण से—तथाकथित धार्मिक भावनाओं से—ऊब उठी। कुछ बेधड़क साधु-सन्त समाज के उद्धार के लिए मैदान में आए। यह ध्यान रखने की बात है कि इन सन्तों में से अधिकांश उन नीची कही जाने वाली जातियों में से थे जो समाज की रक्त-संचारक-धमनियाँ कही जा सकती हैं और जिनकी त्यागमयी सेवाओं के आधार पर समाज की साँस कायम है। परिवर्त्तन की यह लहर दक्षिण से ही उठी थी और देखते ही देखते मध्यभारत में होकर आती हुई उत्तरी भारत में भी फैल गई। इस भावना से प्रेरित सन्त महात्माओं ने अपनी अटपटी सधुक्कड़ी वाणी में अपने अनुभव जनता के सामने रक्खे। यद्यपि ये सन्त बड़े निर्भीक और उच्च कोटि के भक्त थे तथापि सिद्धान्तों के लिए परम्परा का सहारा इन्हें भी लेना पड़ा, एक ओर तो

बौद्ध धर्म के ध्वंसावशेष पर अपना आधार जमाने वाले अनेक पंथ एवं हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय अपनी-अपनी लय और तान के अनुसार राग अलाप रहे थे, दूसरी ओर प्रेममार्गी सूफी कवियों ने भारतीय भक्ति साधना के क्षेत्र में अपनी पियूष वर्षिणी वाणी से वह तान छेड़ी जिसके सरस सीकरों ने नीरस मानव-मानसाम्बुज में मकरन्द का मृदु वर्षण किया। कबीर आदि अनेक कवियों ने विभिन्न मतों की कुरीतियों का भण्डा फोड़ कर एक सामान्य भक्ति-मार्ग प्रशस्त करके एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उनकी अटपटी वाणी में उपदेशों की भरमार, कटु आलोचना के विस्तार और तीक्ष्ण व्यंग्यों की बौछार का कोई पारावार न था। अतएव उन का उपदेश अधिकांश जनता पर प्रभाव न डाल सका। प्रेममार्गी कवियों ने किसी धर्म की कुरीतियों का उद्घाटन न करते हुए कटु-वातावरण को सर्वं देव दूर रखने का प्रयास किया और अपनी धार्मिक साधना को देश काल एवं समाज की आवश्यकता के अनुसार हिन्दुओं की भक्ति-साधना के साँचे में ढाल कर ऐसा रूप दिया जिस की उपेक्षा न तो हिन्दू ही कर सकते थे और न मुसलमान ही। उस साधना-प्रतिमा में प्रेम-प्राणों की प्रतिष्ठा कर उन्होंने उसे मानव मात्र का उपास्य बना दिया।

हम पहले कह चुके हैं भक्ति-काल के पौराणिक युग में श्रीमद्भागवत एक ऐसा ग्रन्थ रचा गया था, जिसमें गीता की भांति साधना की विभिन्नताओं को दूर कर तत्कालीन प्रचलित वैदिक-साधनाओं का सुन्दर समन्वय करके एक सर्वोपयोगी पथ प्रशस्त करने का परम पुनीत कार्य किया गया है। यही कारण है कि सभी वैदिक-सम्प्रदायों ने भागवत को मान्यता दी और उसके आधार पर अपनी-अपनी भक्ति-भावनाओं का प्रसार किया। इन सम्प्रदायों में अनेक सच्चे भक्त दीक्षित हुए, जिन्होंने भागवत की मान्यता को स्वीकार करते हुए तत्कालीन भक्ति-साधनाओं

का समन्वय किया । इन भक्तों ने मानवता के समान धरातल पर खड़े होकर भक्ति गद्-गद् स्वर से चर-अचर में स्पन्दन भरने वाले जो दिव्य गीत गाए थे, वे भक्ति-साहित्य के नाम से प्रख्यात हैं। पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में समस्त देश में इन्हीं गीतों की ध्वनि गूँजती रही, जिसकी प्रतिध्वनि अब भी एकाग्रचित्त होने पर सुन पड़ती है। यही इस भक्ति-आन्दोलन का उत्कर्ष था। अकबर के राज्य-काल में यह आन्दोलन विशेष रूप से पनपा। उसने सब धर्मों के सिद्धान्तों का सार लेकर 'दीन इलाही' मत चलाया और धार्मिक सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया। यद्यपि इस कार्य में उसे सफलता नहीं मिली, तथापि उसकी उदारता, सहिष्णुता और सत्य जिज्ञासा की यह भावना सराहनीय है। उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि भक्ति आन्दोलन का अध्ययन वैदिक काल से लेकर सूफियों तक की विभिन्न धर्म-साधनाओं का अध्ययन है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ—

हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में परम्परा के अनुसार राजनीतिक अराजकता, सामाजिक दुर्व्यवस्था और धार्मिक अत्याचारों को ही भक्ति आन्दोलन का मूल कारण माना है, जैसा कि आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है —

"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह स्थान न रह गया। उसके सामने ही उनके देव-मन्दिर गिराए जाते थे, देव मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न लज्जित हुए बिना सुन ही सकते थे। आगे चल कर जब मुस्लिम-साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य

करके अन्धे सूर ने 'हौं हरि सब पतितन कों नायक' तथा 'प्रभु हौं सब पतितन को टीका' पदों की मधुर ध्वनि के साथ अपनी वीणा के तारों में स्पन्दन भरा। इन पदों से पता चलता है कि उस समय सूरदास भक्ति-मानसरोवर के तट पर तो पहुँच चुके थे और उसकी तह में मुक्ताओं को टटोलने के लिए भी उत्सुक थे किन्तु कदाचित् किसी अनुभवी गोताखोर की अपेक्षा रखते थे। संभवत इसी लिए महाप्रभु ने उनसे कहा—"सूर ह्वै कै ऐसे काहे को घिघियात है कछु भगवत-लीला वरनन करि।"

आचार्य जी के इस महावाक्य ने सूर के जीवन की धारा को परिवर्तित कर दिया। उन्होंने स्नानादि से निवृत्त होकर तत्काल ही महाप्रभु से गुरु-मंत्र लिया और पुष्टि-मार्ग में दीक्षित होकर अपने समस्त दोषों का निवारण कर नवधा-भक्ति की प्राप्ति की। वे निर्द्वन्द्व होकर भक्ति-मानस में अवगाहन करने लगे, जिसके फलस्वरूप उन्हें वह दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई जिससे वे प्रभु की समस्त लीलाओं के दर्शन का आस्वाद पाने में समर्थ हुए। भागवत के दशम स्कन्ध की 'सुबोधिनी' के मंगलाचरण की प्रथम कारिका का पाठ कर तत्क्षण ही उनके भक्ति-रस-पूरित कलकण्ठ से गीत की मधुर धारा बह निकली—

"चकई री चलि चरण सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग"

सचमुच वे उस चरण-सरोवर पर पहुँच गए जिससे निर्गत मन्दाकिनी आज भी अपने पूत प्रवाह से समस्त विश्व को पवित्र कर रही है, जहाँ नि.सार होकर भी संसार ससार है, बन्धन है पर बाधक नहीं, स्पन्दन है किन्तु हलचल नहीं, द्वन्द्व का अनुभव होता है किन्तु निर्द्वन्द्वता के साथ। भक्त के हृदय के कपाट तो खुल गए किन्तु भगवान् वहाँ बन्द हो गए। महाप्रभु को विश्वास हो गया कि सूर अब वास्तव में सूर हो गए। ऐसे सूर जिसके जोड़ का और कोई नहीं, जिसकी ज्योति शाश्वत है और इसका प्रमाण भी उन्हें मिल गया जब सूरदास ने गाया —

'व्रज भयो महर के पूत, जब यह बात सुनी'

इसके अनन्तर आचार्य जी ने सूरदास जी के सब सेवको और शिष्यों को सम्प्रदाय में दीक्षित कर लिया। उन्होंने सूरदास जी को पुरुषोत्तम-सहस्रनाम सुनाया जिससे उन्हें सम्पूर्ण भागवत का स्फुरण होगया, और उन्होंने भागवत के प्रथम स्कन्ध से द्वादश स्कन्ध तक की कथा को पदबद्ध करना आरम्भ किया। अब सूरदास परम भगवदीय हो गए और आचार्य जी के साथ उन्होंने पदार्पण किया।

श्री गोकुलनाथ जी के दर्शन मात्र से ही उनके हृदय में भगवान् की बाल-लीला का स्फुरण हुआ और उन्होने :—

'शोभित कर नवनीत लिए' वाले पद की रचना की। सूर की इस अलौकिक प्रतिभा का अवलोकन कर महाप्रभु जी बहुत प्रसन्न हुए। उनकी कीर्त्तन-शैली, संगीत एव कवित्व पर मुग्ध होकर महाप्रभु जी ने उन्हें श्रीनाथ जी के कीर्त्तन का काम सौंपा। श्रीनाथ जी के दर्शन कर मानों सूरदास जी को भगवान् का साक्षात्कार हो गया। उन्हें सच्ची शान्ति की प्राप्ति हुई, अब भगवच्चरण का परित्याग कर भला वे कहाँ जाँय? सूरदास जी श्रीनाथ जी की सेवा में लग गए। महाप्रभु ने अपने सम्प्रदाय का स्वरूप, भगवान् का माहात्म्य और व्रज-भक्तों का स्नेह सूरदास जी को सुनाया और तब से सूरदास जी कीर्त्तन के मण्डान कार्य में दत्तचित्त हो गए।

सूरदास जी के सम्प्रदाय-प्रवेशकाल के सम्बन्ध में भी कुछ वाद-विवाद है। वार्त्ता-साहित्य में आई हुई घटनाओं से यही सिद्ध होता है कि सूरदास जी लगभग ३२ वर्ष की आयु में सम्प्रदाय में दीक्षित हुए और अन्तिम काल तक सम्प्रदाय की सेवा करते रहे।

वार्ता-सहित्य में सूरदास जी से सम्बन्ध रखने वाली और भी कई घटनाओं का वर्णन है जिनमें सूरदास जी के कुछ चमत्कार आते हैं।

सूरदास जी के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाएँ

सूर-अकबर-मिलन—

यद्यपि महात्मा सूरदास जी व्रज को छोड़ कर अन्यत्र जाने में बहुत हिचकते थे फिर भी उनके विषय में इधर-उधर जाने की कुछ जन-श्रुतियाँ प्रचलित हैं जिन की प्रामाणिकता अभी सन्देह के गर्त में विलीन है। 'सूरदास की वार्ता' प्रसंग तीन में उनकी अकबर बादशाह के साथ भेंट का उल्लेख मिलता है। अकबर सदृश्य उदार, सहिष्णु एवं कला-प्रेमी व्यक्ति की सूरदास जैसे महात्मा भक्त कवि के प्रति श्रद्धा होना स्वाभाविक था, किन्तु सूरदास के हृदय में अपने उपास्य के अतिरिक्त और किसी का स्थान न था। 'प्रेम गली अति साँकरी वा में दो न समायँ'। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार दिल्ली से आगरा जाते समय अकबर सूरदास जी से मिला था। किम्वदन्ती है कि अपनी सभा के प्रसिद्ध गायक तानसेन द्वारा सूरदास के एक पद के रस का आस्वादन कर अकबर सूर से मिलने के लिए लालायित हो उठा और उसने उनसे भेंट की भी। सूरदास जी ने अकबर के सामने जो पद गाए उनका उल्लेख सूरदास की तीसरी वार्ता में हुआ है। उनका पहला पद था—

"मना रे तू करि माधव से प्रीति।"

जब सूरदास जी से अकबर के विषय में कुछ गाने के लिए कहा गया तब उन्होंने यह पद गाया :—

"नाहिन रह्यौ मन में ठौर"

अकबर के हृदय पर सूर की निर्भीकता और भक्ति-भावना का बड़ा गम्भीर प्रभाव पड़ा। सूर और अकबर की यह भेंट कब हुई, इसका कोई निश्चित समाधान अभी तक नहीं हो पाया। डा० दीनदयालु गुप्त जी का

अनुमान है कि अकबर सूर से सन् १५७४ ई० व सन् १५८२ ई० के बीच में मिला होगा। 'सूर-निर्णय' के लेखकों ने इस भेंट को १५६६ ई० में मथुरा में माना है, जब कि डा० व्रजेश्वर वर्मा सन् १५७५ ई० के पश्चात् मानते हैं। ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर यही समीचीन प्रतीत होता है कि यह भेंट सन् १५७५ ई० और सन १५८२ ई० के बीच हुई होगी।

सूर-तुलसी-मिलन—

सूर और तुलसी की भेंट का उल्लेख भी कतिपय ग्रन्थों में हुआ है। 'मूल गुसाईं चरित' में लिखा है कि सम्वत् १६१६ में श्री गोकुलनाथ जी की प्रेरणा से सूरदास जी तुलसीदास जी से चित्रकूट पर मिले। इसके विपरीत 'प्राचीन वार्ता साहित्य' में यह कथन है कि तुलसीदास जी जब अपने भाई नन्ददास जी से मिलने व्रज में आए उस समय पारसौली गाँव में उनकी सूरदास जी से भेंट हुई। सूर के जीवन की घटनाओं को देख कर 'प्राचीन वार्ता' का रहस्य ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

गोलोक-वास—

सूर के गोलोक-वास के सम्बन्ध में भी बहुत अधिक मतभेद है जिसके कारण उनकी निधन-तिथि सम्वत् १६२० से सम्वत् १६४२ तक दोलायमान है। मिश्रबन्धुओं ने सूर का निधन संवत् १६२० ही माना है और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने भी उसी को स्वीकार किया है। परन्तु जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं सूर और अकबर की भेंट संवत् १६३१ से पहले संभव नहीं है। इसलिए उनका गोलोक-वास सम्वत् १६३१ के पश्चात् ही मानना चाहिए। कृष्णदास द्वारा रचित जो वसंत-विषयक प्रसिद्ध पद है उसमें सूरदास जी के साथ गोसाईं जी के सप्तम पुत्र घनश्याम का भी उल्लेख है जिसका जन्म वल्लभ-वंश-वृक्ष के अनुसार संवत् १६२८ में

हुआ। यदि वसंतोत्सव के समय उनकी आयु सात वर्ष की भी मानी जाय तो सूरदास जी का पता सम्वत् १६३५ तक चल जाता है। 'वार्ता-साहित्य' के अनुसार सूरदास जी की मृत्यु के समय गोसाई विट्ठलनाथ जी जीवित थे और गोसाईं विट्ठलनाथ जी का तिरोधान फाल्गुन कृष्ण सप्तमी १६४१ को हुआ। इस लिए सूरदास जी का काल संवत् १६४२ से आगे नहीं जाता, और हमें 'भाव प्रकाश' के आधार पर उनका देहावसान संवत् १६४० के लगभग ही मानना पड़ेगा।

सूरदास जी की वार्ता के छठे प्रसंग में उनके अन्तिम समय का वर्णन है। सूरदास जी को नित्य कीर्त्तन करते समय जब यह भास गया कि उनका अन्तिम समय निकट है तो वे अपने निवास-स्थान पारसौली में आए और श्रीनाथ जी की ध्वजा को दण्डवत् कर ध्वजा की ओर मुख करके लेट गए, परन्तु उनके अन्तःकरण में महाप्रभु विट्ठलनाथ जी के दर्शन की अभिलाषा बनी रही। इधर जब गोसाईं जी ने सूरदास जी को कीर्त्तन करते नहीं देखा तब उनके विषय में उन्होने पूछ-ताछ की और समय से पहले सूरदास जी के चले जाने की बात सुन कर गोसाईं जी को खटक गया कि अब उनका अन्त-समय आ गया है, और वे आरती आदि से निवृत्त हो कर कुंभनदास, चतुर्भुजदास को साथ ले कर पारसौली पहुँच गए। गोसाँई जी के आने की बात सुनकर सूरदास जी को होश आ गया और उन्होंने गद्गद् हो कर यह पद गया :—

देखो-देखो जू हरि कौ एक सुभाइ।
अति गम्भीर उदार, उदधि हरि जान सिरोमणि राई॥

इस पद को सुन कर गोसाईं जी अपने भक्त के मर्म को समझ गए कि वह गुरु और श्रीकृष्ण में कुछ अन्तर नहीं समझता। फिर चतुर्भुजदास जी ने जब आचार्य महाप्रभु के यशोवर्णन के लिए सूरदास जी से कहा तो

गुरु-गोविन्द में समान भाव रखने वाले भक्त-प्रवर सूरदास जी ने यह पद गाया —

> भरोसो दृढ इन चरननि केरौ।
> श्री वल्लभ नख-चन्द्र छटा बिनु सब जग माझि अँधेरौ॥
> साधन और नहीं या कलि में जासों होत निवेरौ।
> सूर कहा करै दुविधि आँधरो, बिना मोल को चेरौ॥

इस पद को गा कर वे मूर्छित हो गए, फिर जब गोसाईं जी ने उनसे उनकी चित्तवृत्ति के विषय में पूछा तो उन्होंने यह पद गाया :—

> खजन नैन सुरँग रस माते।

इसके पश्चात् उन्होंने इहलीला समाप्त कर दी।

द्वितीय अध्याय

सूर-साहित्य की पृष्ठभूमि

भक्ति-आन्दोलन का सामान्य-विवेचन--

महाकवि सूरदास के साहित्य-महोदधि का मन्थन वास्तव में अत्यन्त दुस्तर कार्य है। विभिन्न युगों के अभेद्य-स्तरों के बीच से मन्द-मन्द किन्तु अव्याहत गति से बहती हुई, अनेक दिशाओं से उल्टी-सीधी बह कर आने वाली विविध विचारधाराओं को आत्मसात् करती हुई, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की सिद्धान्त-सार-सुधा से प्राणियों के अन्तःकरण को तृप्त करती हुई भारतीय साधना की मन्दाकिनी ने इस सागर को लबालब भर दिया है कि उसमें मग्न होकर भी तह तक पहुँचना सरल कार्य नहीं है। सूर-साहित्य की पृष्ठभूमि भारत के मध्यकालीन युग का इतिहास है, जिसमें वह महान् और व्यापक आन्दोलन अन्तर्हित है, जिसने ऐसी अनेक भावनाओं को जन्म दिया, जो एक ओर तो मानवता के क्षेत्र को विस्तृत करने वाली हैं तथा दूसरी ओर अनेक संकीर्णताओं को उत्पन्न करती हैं। इस आन्दोलन का समुचितरूप से व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध न होने के कारण अनेक भ्रान्त धारणाओं का प्रचार होता रहा है। भारतीय इतिहास में तो यह 'मध्यकालीन' शब्द नया-सा ही है परन्तु यूरोपीय इतिहास में Medieval Period सन् ४७६ से सन् १५५३ तक माना जाता है। इस काल में कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का उदय हो गया था जिनके कारण उत्तरोत्तर अन्धविश्वास का विकास और तथ्य-जिज्ञासा का ह्रास होता गया। केवल यूरोप में ही नहीं विश्व के समस्त देशों में—समस्त सम्प्रदायों और समाजो में—इस मनोवृत्ति का महान् प्रभाव पड़ा था, जिसने इतिहास का स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया, फिर भारत इसका अपवाद कैसे रह जाता?

भारतवर्ष के 'गुप्त-युग' को इतिहास-कारो ने स्वर्ण-युग का नाम दिया ही है, किन्तु खेद है कि दूसरी एव तीसरी शताब्दियो के उत्कर्ष के बहुत कम चिह्नावशेष आज प्राप्त हैं, जिससे अनेक यूरोपीय विद्वानों ने भ्रमवश इस युग को 'अन्धकार-युग' घोषित कर डाला। वस्तुत यह नामकरण तर्क-संगत नहीं है, क्योंकि इस काल में धर्म, दर्शन, नीति और साहित्य-विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना हुई तथा अनेक ऐसे सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने परवर्ती भारतवर्ष को कई रूपों में प्रभावित किया। सन् ३२० में गुप्त-साम्राज्य की स्थापना के साथ भारतीय इतिहास में और भी अधिक स्फूर्ति का युग आया, सस्कृत-भाषा ने नई शक्ति प्राप्त की और समूचे देश में एक नवीन प्रकार की जातीयता की लहर दौड गई। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसी क्रान्ति हुई कि हमारे सोचने-विचारने, देखने-सुनने का ढंग ही बदल गया और ऐसा बदला कि आज भी उसका प्रभाव हमारे धर्म, दर्शन, समाज, आचार-विचार और रीति-रिवाज पर स्पष्ट लक्षित होता है। बहुत से पुराण और स्मृतियों की रचना भी सभवत इसी युग में हुई थी।

छठी शताब्दी में भारतवर्ष में उस युग का सूत्रपात हुआ, जिसे हम यूरोपीय ऐतिहासिकों की परिभाषा में 'मध्य-युग' कह सकते हैं। इस काल की धर्म-साधना अनेक प्रभावों का समन्वित रूप कही जा सकती है। छठी शताब्दी से ११–१२वीं शताब्दी तक का साहित्य बडा व्यापक है, परन्तु इसमें साम्प्रदायिकता की पूरी-पूरी छाप है। जहाँ एक ओर बौद्धो और जैनों का अपने-अपने अस्तित्व के लिए भरसक प्रयास है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे तत्त्वों का भी अभाव नहीं, जिन का परिपाक अन्ततोगत्वा ध्वसात्मक ही होता है। वैष्णव-सम्प्रदाय में भी यत्र-तत्र इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार होता है। इन विविध मत-मतान्तरों के झमेले में पड कर राजनीति की भी ऐसी दुर्दशा हुई कि उस का रूप तो विकृत हुआ ही, स्वतन्त्र रूप से पृथक् चला आता हुआ व्यक्तित्व भी समाप्त-प्राय. हो गया, और वह

साम्प्रदायिकता के हाथों में खेलने लगी। इस काल में एक ऐसी परम्परा सी चली, जिसका आधार वैदिक और अवैदिक भावनाओं के मूल में केन्द्रित हुआ, परन्तु जहाँ अवैदिक सम्प्रदायों में वृद्धि हुई वहाँ वेद को ही अन्तिम प्रमाण मानने वाले धर्म-मतों और दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या भी एक दो ही नहीं रही। मत-वैभिन्न्य तथा विश्वास-वैचित्र्य होते हुए भी विभिन्न सम्प्रदाय अपने आप को श्रुति-सम्मत मानते थे। जिस प्रकार अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि अनेक परस्पर-विरोधी मत श्रुति को ही अपनी आधारशिला बतलाते हैं, उसी प्रकार शैव, शाक्त, पाशुपत, गाणपत्य, सौर आदि सम्प्रदाय भी अपने आप को वेद-विहित कहते हैं। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी तक के युग को मध्यकालीन युग का उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है। यह युग समन्वय की भावना को लेकर चला। एक ओर तो सगुण-धारा के भक्त कवियों ने विभिन्न वैष्णव-सम्प्रदायों के पारस्परिक वैमनस्य को दूर कर शैव, शाक्त आदि अन्य सम्प्रदायों से भी सम्बन्ध जोड़ा, दूसरी ओर सन्त कवियों ने अपनी अन्त साधना के बल पर मानव-मन की शाश्वत प्रवृत्तियों का सपरिष्कार उद्रेक कर ऐहिकता की भर्त्सना की और निर्जीव हृदयों में ऐसी चेतनता भरी जिससे निराशा के मेघ हट गए और आशा की सुनहली रश्मियो का आलोक बिखर गया। इन कवियों का व्यक्तित्व ही समन्वयात्मकता की आधार भूमि पर खड़ा था। अक्खड़ता की परिधि को छूता हुआ आत्म-गौरव, दीनता के अंक में क्रीड़ा करती हुई नम्रता, संसार के कठोरतम संघर्ष से जूझने की प्रस्तर तुल्य दृढ़ता के साथ अपनी निरीहता पर नवनीत सम पिघलने वाली कोमलता, सब का समन्वय वास्तव में आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है। जनता के हृदय का वास्तविक प्रतिनिधित्व करने वाले इन कवियो ने उसके मनोभावों को ऊँचा उठाने मे नि.सन्देह भगीरथ प्रयत्न किया। तेरहवीं शताब्दी के अनन्तर इन सन्त भक्तो ने उत्तरी भारत में अपना प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया और

समाज की परिस्थितियों के अनुकूल १७वीं शताब्दी तक विभिन्न प्रकार से समाज की सेवा करते रहे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस काल को भक्ति-काल की संज्ञा दी है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस युग को भक्ति का विशिष्ट युग माना है। डा० ग्रियर्सन ने इस आन्दोलन के विषय में लिखा है कि यह आन्दोलन बिजली की चमक के समान सारे भारत में फैल गया। डा० ग्रियर्सन ने इस आन्दोलन का सम्बन्ध मध्य युग के मर्मी ईसाइयों से लगाया है और इसे ईसाइयत की देन बताया है। डा० ग्रियर्सन का यह कथन स्वाभाविक ही है, क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों की प्राय यह परम्परा रही है कि जो कुछ भी वे भारत में स्पृहणीय देखते हैं, उसका सम्बन्ध यूरोप से अवश्य जोडते हैं। इसे उनकी अहमन्यता अथवा विकृत-देश-भक्ति ही कहा जा सकता है। अस्तु इस में सन्देह नहीं कि मध्य युग के इतिहास में यह आन्दोलन बेजोड़ अवश्य कहा जा सकता है। यह आन्दोलन उत्तरोत्तर जोर पकड़ता गया और पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में यह प्रवाह सिमट कर ब्रज भूमि में प्रवाहित होने लगा और मानव-मात्र के मन के मैल को काट कर अनिर्वचनीय आनन्द का प्रसार करने लगा। अतएव डा० ग्रियर्सन का यह कथन कि अकस्मात् विद्युत्-लेखा के समान यह आन्दोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गया, सत्य-सा ही है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस युग को हम भारतीय सस्कृति की पराजय का युग भले ही मान लें परन्तु मानव संस्कृति की दृष्टि से इस के महत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सकते क्योंकि इस युग में विभिन्न सस्कृतियों और धार्मिक साधनाओं का मानवता के धगतल पर समन्वय हुआ। इस विषय पर आचार्य क्षितिमोहन सेन की 'भारतीय-मध्य-युगीन-साधना' डी० सी० सेन का 'बंग भाषा और साहित्य' पाश्चात्य विद्वान् कर्न (Kern) का Mannual of Budhism तथा डा० ग्रियर्सन, कीथ आदि के लेख पठनीय हैं।

इस भक्ति-आन्दोलन के सूक्ष्म अध्ययन से हमें वे सारे प्रभाव लक्षित हो जाते हैं जो उसके मूल में हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी तथा भक्त कवि सूरदास इस युग के सामञ्जस्यवादी प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने समाज के धरातल पर मानवता का उद्घाटन किया तो सूरदास ने व्यक्तिगत साधना को महत्त्व देकर मानव हृदय के चिरन्तन समान भावों का स्पर्श किया। यही कारण है कि इस आन्दोलन की प्रेरणाओं की जितना स्फुट प्रतिविम्ब तुलसी के काव्य में लक्षित होता है, उतना सूर की कृतियों में नहीं। पुष्टि सम्प्रदाय के विवेचन में हम बतलाएँगे कि किस प्रकार इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने लौकिक वासनाओं और ऐहिक ऐषणाओं को परब्रह्म स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण में लगा कर उन्हें पवित्र बनाने का विधान रक्खा था। संसार के संघर्ष से दूर, कल-कल ध्वनि से कूलस्थ कुञ्जों को निनादित करने वाली कालिन्दी के सुरम्य तट पर, करीर के कुञ्जों में मन्द पवन से आन्दोलित वल्लरियो के झुरमुटों में उठती हुई मुरली-ध्वनि को सुन कर, राधा और कृष्ण की कल-केलि का साक्षात्कार करते हुए अन्धे सूरदास केवल समाज को ही नहीं, अपने अस्तित्व को भी भूल जाते थे; स्वयं राधाकृष्ण मय हो जाते थे, संसार में उन्हें अपने आराध्य-युगल का ही रूप दीख पड़ता था। कबीर का 'फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना' वाला वाक्य चरितार्थ हो गया। यही कारण है कि सूर के काव्य में सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव उतना नहीं दीख पड़ता, जितना तुलसी के काव्य में। फिर भी उसका सर्वथा अभाव नहीं है। सूरदास जी के साहित्य का अध्ययन करने के लिए जहाँ हमें भक्ति आन्दोलन की धार्मिक पृष्ठभूमि का ज्ञान अपेक्षित है, वहाँ तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों की जानकारी भी उपेक्षणीय नहीं। १५वीं और १६वीं शताब्दी में भक्ति का जो समन्वितरूप जनता के समक्ष प्रस्तुत हुआ वह अनेक प्रभावों का फल कहा जा सकता है।

समाज की परिस्थितियों के अनुकूल १७वीं शताब्दी तक विभिन्न प्रकार से समाज की सेवा करते रहे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस काल को भक्ति-काल की संज्ञा दी है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस युग को भक्ति का विशिष्ट युग माना है। डा० ग्रियर्सन ने इस आन्दोलन के विषय में लिखा है कि यह आन्दोलन विजली की चमक के समान सारे भारत में फैल गया। डा० ग्रियर्सन ने इस आन्दोलन का सम्बन्ध मध्य युग के मर्मी ईसाइयों से लगाया है और इसे ईसाइयत की देन बताया है। डा० ग्रियर्सन का यह कथन स्वाभाविक ही है, क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों की प्राय यह परम्परा रही है कि जो कुछ भी वे भारत में स्पृहणीय देखते हैं, उसका सम्बन्ध यूरोप से अवश्य जोडते हैं। इसे उनकी अहमन्यता अथवा विकृत-देश-भक्ति ही कहा जा सकता है। अस्तु इस में सन्देह नहीं कि मध्य युग के इतिहास में यह आन्दोलन बेजोड़ अवश्य कहा जा सकता है। यह आन्दोलन उत्तरोत्तर जोर पकडता गया और पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में यह प्रवाह सिमट कर ब्रज भूमि में प्रवाहित होने लगा और मानव-मात्र के मन के मैल को काट कर अनिर्वचनीय आनन्द का प्रसार करने लगा। अतएव डा० ग्रियर्सन का यह कथन कि अकस्मात् विद्युत्-लेखा के समान यह आन्दोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गया, सत्य-सा ही है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस युग को हम भारतीय सस्कृति की पराजय का युग भले ही मान लें परन्तु मानव संस्कृति की दृष्टि से इस के महत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सकते क्योंकि इस युग में विभिन्न सस्कृतियों और धार्मिक साधनाओं का मानवता के धरातल पर समन्वय हुआ। इस विषय पर आचार्य क्षितिमोहन सेन की 'भारतीय-मध्य-युगीन-साधना' डी० सी० सेन का 'बंग भाषा और साहित्य' पाश्चात्य विद्वान् कर्न (Kern) का Mannual of Budhism तथा डा० ग्रियर्सन, कीथ आदि के लेख पठनीय हैं।

इस भक्ति-आन्दोलन के सूक्ष्म अध्ययन से हमें वे सारे प्रभाव लक्षित हो जाते हैं जो उसके मूल में हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी तथा भक्त कवि सूरदास इस युग के सामञ्जस्यवादी प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने समाज के धरातल पर मानवता का उद्घाटन किया तो सूरदास ने व्यक्तिगत साधना को महत्त्व देकर मानव हृदय के चिरन्तन समान भावों का स्पर्श किया। यही कारण है कि इस आन्दोलन की प्रेरणाओं की जितना स्फुट प्रतिविम्ब तुलसी के काव्य में लक्षित होता है, उतना सूर की कृतियों में नहीं। पुष्टि सम्प्रदाय के विवेचन में हम बतलाएँगे कि किस प्रकार इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने लौकिक वासनाओं और ऐहिक ऐषणाओं को परब्रह्म स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण मे लगा कर उन्हें पवित्र बनाने का विधान रक्खा था। संसार के संघर्ष से दूर, कल-कल ध्वनि से कूलस्थ कुञ्जो को निनादित करने वाली कालिन्दी के सुरम्य तट पर, करीर के कुञ्जों में मन्द पवन से आन्दोलित वल्लरियों के झुरमुटों में उठती हुई मुरली-ध्वनि को सुन कर, राधा और कृष्ण की कल-केलि का साक्षात्कार करते हुए अन्धे सूरदास केवल समाज को ही नहीं, अपने अस्तित्व को भी भूल जाते थे, स्वयं राधाकृष्ण मय हो जाते थे, संसार में उन्हें अपने आराध्य-युगल का ही रूप दीख पड़ता था। कबीर का 'फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना' वाला वाक्य चरितार्थ हो गया। यही कारण है कि सूर के काव्य में सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव उतना नहीं दीख पड़ता, जितना तुलसी के काव्य में। फिर भी उसका सर्वथा अभाव नहीं है। सूरदास जी के साहित्य का अध्ययन करने के लिए जहाँ हमें भक्ति आन्दोलन की धार्मिक पृष्ठभूमि का ज्ञान अपेक्षित है, वहाँ तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों की जानकारी भी उपेक्षणीय नहीं। १५वीं और १६वीं शताब्दी में भक्ति का जो समन्वितरूप जनता के समक्ष प्रस्तुत हुआ वह अनेक प्रभावों का फल कहा जा सकता है।

इस विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो भक्ति साधना पहले सीधे-सादे स्तुति गान और पशु-बलि से प्रारम्भ हुई थी, उसमें उत्तरोत्तर भेद की भावना दृढ होती गई और अभेद की भावना का ह्रास चलता रहा। इस विविधता का परिणाम यह हुआ कि अनेक प्रकार के वर्ग, फिर्के और सेक्ट (Sect) स्थापित हो गए तथा व्यक्ति धार्मिक बन्धनों में इतना जकड गया कि उसे स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन यात्रा करने में भी प्रगति करना दूभर हो उठा। उसके सकल क्रिया-कलापों पर धर्म का अकुश रहने लगा और शनै-शनै अन्ध-विश्वासों के कारण दृष्टिकोण नितान्त संकुचित हो गया, जिससे पारस्परिक वैमनस्य, घृणा और द्वेष भाव ही बढे। राजनीति में भी धर्म को इतनी बुरी तरह उलझाया गया कि धर्म के नाम पर वह भयंकर नर-सहार के महापाप की भागिनी बनी जिसके स्मरण मात्र से रोगटे खडे हो जाते हैं। विश्व के सभी देशों में जिहाद (धर्म-युद्ध) को प्रोत्साहन मिला और धार्मिक अराजकता का ऐसा चक्र चला जिसके नीचे निरपराध भोली-भाली जनता बुरी तरह पिस गई। आखिर हर एक वस्तु की कोई सीमा होती है, समय ने पलटा खाया, जनता अन्धविश्वास के वातावरण से—तथाकथित धार्मिक भावनाओं से—ऊब उठी। कुछ बेधडक साधु-सन्त समाज के उद्धार के लिए मैदान में आए। यह ध्यान रखने की बात है कि इन सन्तों में से अधिकाश उन नीची कही जाने वाली जातियों में से थे जो समाज की रक्त-संचारक-धमनियाँ कही जा सकती हैं और जिनकी त्याग मयी सेवाओं के आधार पर समाज की सास कायम है। परिवर्त्तन की यह लहर दक्षिण से ही उठी थी और देखते ही देखते मध्यभारत में होकर आती हुई उत्तरी भारत में भी फैल गई। इस भावना से प्रेरित सन्त महात्माओं ने अपनी अटपटी सधुक्कडी वाणी में अपने अनुभव जनता के सामने रक्खे। यद्यपि ये सन्त बडे निर्भीक और उच्च कोटि के भक्त थे तथापि सिद्धान्तों के लिए परम्परा का सहारा इन्हें भी लेना पड़ा, एक ओर तो

बौद्ध धर्म के ध्वंसावशेष पर अपना आधार जमाने वाले अनेक पंथ एवं हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय अपनी-अपनी लय और तान के अनुसार राग अलाप रहे थे, दूसरी ओर प्रेममार्गी सूफी कवियों ने भारतीय भक्ति साधना के क्षेत्र में अपनी पियूष वर्षिणी वाणी से वह तान छेड़ी जिसके सरस सीकरों ने नीरस मानव-मानसाम्बुज में मकरन्द का मृदु वर्षण किया। कवीर आदि अनेक कवियो ने विभिन्न मतों की कुरीतियों का भण्डा फोड़ कर एक सामान्य भक्ति-मार्ग प्रशस्त करके एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उनकी अटपटी वाणी में उपदेशो की भरमार, कटु आलोचना के विस्तार और तीक्ष्ण व्यंग्यों की बौछार का कोई पारावार न था। अतएव उन का उपदेश अधिकांश जनता पर प्रभाव न डाल सका। प्रेममार्गी कवियों ने किसी धर्म की कुरीतियो का उद्घाटन न करते हुए कटु-वातावरण को सर्व दैव दूर रखने का प्रयास किया और अपनी धार्मिक साधना को देश काल एवं समाज की आवश्यकता के अनुसार हिन्दुओं की भक्ति-साधना के साँचे में ढाल कर ऐसा रूप दिया जिस की उपेक्षा न तो हिन्दू ही कर सकते थे और न मुसलमान ही। उस साधना-प्रतिमा में प्रेम-प्राणों की प्रतिष्ठा कर उन्होंने उसे मानव मात्र का उपास्य वना दिया।

हम पहले कह चुके हैं भक्ति-काल के पौराणिक युग में श्रीमद्भागवत एक ऐसा ग्रन्थ रचा गया था, जिसमें गीता की भांति साधना की विभिन्नताओ को दूर कर तत्कालीन प्रचलित वैदिक-साधनाओं का सुन्दर समन्वय करके एक सर्वोपयोगी पथ प्रशस्त करने का परम पुनीत कार्य किया गया है। यही कारण है कि सभी वैदिक-सम्प्रदायों ने भागवत को मान्यता दी और उसके आधार पर अपनी-अपनी भक्ति-भावनाओं का प्रसार किया। इन सम्प्रदायों में अनेक सच्चे भक्त दीक्षित हुए, जिन्होंने भागवत की मान्यता को स्वीकार करते हुए तत्कालीन भक्ति-साधनाओं

का समन्वय किया । इन भक्तों ने मानवता के समान धरातल पर खड़े होकर भक्ति गद्‌-गद्‌ स्वर से चर-अचर में स्पन्दन भरने वाले जो दिव्य गीत गाए थे, वे भक्ति-साहित्य के नाम से प्रख्यात हैं। पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में समस्त देश में इन्हीं गीतो की ध्वनि गूँजती रही, जिसकी प्रतिध्वनि अब भी एकाग्रचित्त होने पर सुन पडती है। यही इस भक्ति-आन्दोलन का उत्कर्ष था। अकबर के राज्य-काल में यह आन्दोलन विशेष रूप से पनपा। उसने सब धर्मों के सिद्धान्तों का सार लेकर 'दीन इलाही' मत चलाया और धार्मिक सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया। यद्यपि इस कार्य में उसे सफलता नहीं मिली, तथापि उसकी उदारता, सहिष्णुता और सत्य जिज्ञासा की यह भावना सराहनीय है। उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि भक्ति आन्दोलन का अध्ययन वैदिक काल से लेकर सूफियों तक की विभिन्न धर्म-साधनाओं का अध्ययन है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ—

हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थो में परम्परा के अनुसार राजनीतिक अराजकता, सामाजिक दुर्व्यवस्था और धार्मिक अत्याचारों को ही भक्ति आन्दोलन का मूल कारण माना है, जैसा कि आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है —

"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह स्थान न रह गया। उसके सामने ही उनके देव-मन्दिर गिराए जाते थे, देव मूर्तियाँ तोड़ी जाती थी और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न लज्जित हुए, बिना सुन ही सकते थे। आगे चल कर जब मुस्लिम-साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य

भी न रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू-जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"

डा० ईश्वरीप्रसाद ने सुलतान काल की हिन्दू जनता की आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक दशा का वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

"इसलाम धर्म का प्रचार भारतवर्ष में उसके सरल सिद्धान्तों के कारण नहीं, अपितु इसलिए हुआ कि वह एक राज-शक्ति का धर्म था जिसका प्रचार विजित प्रजा में बलात् कृपाण और दण्ड के आधार पर किया जाता था। स्वार्थ-सिद्धि एवं राज-सभा में उच्च पद प्राप्त करने के लोभ में लोग अपने धर्म को त्याग कर इसलाम को स्वीकार कर लेते थे, किन्तु पद-प्राप्ति-प्रलोभन एवं राज्य की ओर से आर्थिक पुरस्कार उस वर्ग के प्रति हिन्दुओं के हृदय में कसकती हुई वैर-भावना को दबाने में कभी सफल नहीं हुए, जिसने उनके स्वातन्त्र्य का अपहरण किया था और जो उनके धर्म को घृणा की भावना से देखता था। धार्मिक एवं राजनीतिक दोनों ही दृष्टियों से हिन्दू सताए जा रहे थे और हिन्दुओं की ओर से भी प्रबल विरोध था। मूर्तियों को तोड़ना सब प्रकार के विरुद्ध विश्वासों का हनन और काफिरों (हिन्दुओं) को इसलाम में दीक्षित करना आदि कार्य आदर्श इसलाम-राज्य के कर्त्तव्य समझे जाते थे। सिकन्दर लोदी के राज्य-काल में तो हिन्दुओं पर अत्याचार करने का एक आन्दोलन सा ही चल गया था। राज्य की ओर से गैर-मुस्लिम प्रजा पर बड़े प्रतिबन्ध थे, उसे बल-पूर्वक मुसलमान बनाना तो सामान्य बात थी। उसे एक प्रकार का कर जो 'जजिया' कहलाता था, देना पड़ता था। यद्यपि कुरान में इस प्रकार की जबरदस्ती का विधान नहीं है। मुसलमान-राज्यों में शाही लोगों में विलासिता का दौर था। राज्य के

उच्च-पद मुसलमानों के लिए सुरक्षित थे, योग्यता की पूछ नहीं थी, बादशाह की इच्छा ही कानून था। सुलतान की कृपा-दृष्टि से जिन्हें सम्पत्ति और अधिकार प्राप्त थे उन में विलासिता और दुर्व्यसन घर कर गए थे, जिस के कारण ईसा की १४ शताब्दी के अन्त में मुसलमानों में शक्ति और स्फूर्ति की अवनति होने लगी, हिन्दू लोग निर्धनता, दीनता और कठिनाई का जीवन व्यतीत करते थे। उनकी आय उनके कुटुम्ब के लिए मुश्किल से ही काफी होती थी। विजित-प्रजा के जीवन-यापन का स्तर बहुत निम्न कोटि का था और राजकीय कर का भार उसी को प्रधानतया वहन करना लडता था। ऐसी बुरी स्थिति में उन्हें अपनी राजनीतिक प्रतिभा के परिष्कार का अवसर भी कभी न मिल सका।"

हम पहले लिख चुके हैं कि सूरदास जी का काल स० १५३५ से सं० १६४० तक था। इस दीर्घकाल में दिल्ली-साम्राज्य में अनेक परिवर्तन हुए। दिल्ली की गद्दी पर कई मुसलमान बादशाह बैठे और उन्होंने अपनी-अपनी व्यवस्था चलाई। १०० वर्ष से ऊपर के उस समय में लोदी, सूरी और मुगलवंशी बादशाहों का आधिपत्य दिल्ली पर रहा तथा ब्रज-प्रदेश दिल्ली और आगरे के मातहत रहा। केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया के अनुसार इन बादशाहों का समय-निर्धारण इस प्रकार है —

१	बहलोल लोदी	सन् १४५१ ई० से	१४८७ ई० तक
२	सिकन्दर लोदी	१४८९	१५१७
३.	इब्राहीम लोदी	१५१७	१५२६
४	बाबर	१५२६	१५३०
५.	हुमायूँ	१५३०	१५३९
६	शेरशाह सूरी	१५३९	१५४५
७	इसलाम शाह	१५४५	१५५४
८.	मुहम्मद आदिलशाह तथा	१५५४	१५५५
९.	सिकन्दर शाह		

१०. हुमायूँ (पुनः)	सन् १५५५ ई० से	१५५६ ई० तक
११. अकबर	१५५६	१६०५

इतिहास के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि खिलजी वंश से पूर्व स्थिति चाहे जैसी रही हो, परन्तु खिलजी वंश का देश पर आधिपत्य होने के पश्चात् राजनीतिक भावनाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इस वंश का संस्थापक जलालुद्दीन खिलजी स्वयं अत्यन्त कोमल-हृदय व्यक्ति था। अलाउद्दीन ने तो अपने राजत्व का आदर्श ही बदल दिया था। उसने मुल्ला और मौलवियों के प्रभाव से राजनीति को दूर कर अपना धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण घोषित किया। राजनीतिक विद्रोह को दबाने में अथवा उसके कारणों को ही दूर करने के लिए उसने अवश्य ही कठोर नीति का आश्रय लिया, किन्तु उसके मूल में कोई धार्मिक भावना नहीं थी। राजनीतिक अपराध करने पर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समान रूप से उसके कोप-भाजन बनते थे। इसलाम-धर्मी की ओर भी कोई रूरियायत करने की गुँजाइश उसकी नीति में नहीं थी। यह सत्य है कि उसके उत्तराधिकारियों की नीति ऐसी नहीं रही, किन्तु बीच-बीच में कोई-कोई सुलतान अवश्य ही धार्मिक सहिष्णुता और उदारता का परिचय देते थे। मुहम्मद तुगलक के राज्य-काल में भी अलाउद्दीन की धर्मनिरपेक्ष नीति का अनुसरण किया गया। तैमूर के आक्रमण से जो अराजकता फैल गई थी उसके कारण शासन-सूत्र के दृढ न रहने से ऐसे तत्त्वों का उदय हुआ जिनसे सामाजिक संगठन में भी बड़ी ही अस्त-व्यस्तता का प्रादुर्भाव हुआ। सैयद और लोदी वंश के राज्य-काल में भी एक-दो शासकों के अतिरिक्त अन्य शासकों के शासन का जैसा विवरण इतिहासों में मिलता है उससे उनकी धार्मिक-कट्टरता का ही आभास मिलता है, जिसके कारण अन्य मतावलम्बियों को अनेक कष्ट सहन करने पड़े, किन्तु इस तथ्य को समस्त इतिहासकार एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि अकबर के समय

रहे आर्थिक स्थिति में सुधार होने से विलासिता भी बढ़ी। मदिरा, अफीम आदि मादक वस्तुओं का सेवन बढ़ रहा था। अकबर स्वयं मदिरा का प्रयोग करता था और उसके दो पुत्र अत्यधिक शराब पीने के कारण मर गए थे। अभिप्राय यह है कि सामाजिक स्थिति में सुधार होने से लोगों को कुछ राहत मिली और ललित कलाओं की ओर उनकी प्रवृत्ति हुई।

देश की सामाजिक स्थिति का ज्ञान तत्कालीन भक्त कवियों की रचनाओं के अवलोकन से प्राप्त होता है। सन्तों की वाणियों में यद्यपि निरपेक्षभाव से कहे हुए विरक्ति-परक भावों का ही बाहुल्य है फिर भी उनके पदों में सामाजिक परिस्थितियों से खिन्न उनकी अन्तरात्मा की पुकार स्पष्ट लक्षित है। कबीर ने हिन्दू-मुसलमान दोनों को ही उनकी आचरण-हीनता के लिए फटकारा है। सन्तों की वाणियों में उनके आन्तरिक उद्-गारों का निर्भीकता पूर्वक व्यक्तीकरण हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास जी के काव्यों में तो तत्कालीन दुर्व्यवस्था का ऐसा संश्लिष्ट चित्रण है कि पाठक तल्लीन हो कर मानों उनके सम-सामयिक समाज में सशरीर विचरण करने लगता है। यह स्मरणीय बात है कि इन सन्त कवियों का उद्देश्य किसी शक्ति अथवा व्यक्ति विशेष पर कोई आक्षेप करने का नहीं था, इस लिये ऐतिहासिकता की दृष्टि से उनके काव्य से विशेष सहायता नहीं मिल सकती। इसके अतिरिक्त इन महात्माओं के 'स्वान्त सुखाय' तथा आत्म-परिष्कार-मूलक होने के कारण उनके आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी सैद्धान्तिकरूप से ब्रह्मवाद अथवा शुद्धाद्वैतवाद की प्रतिष्ठा करने वाले थे किन्तु उन्होंने अपने मत का जो व्यावहारिकरूप रक्खा था, वह पर्याप्त मात्रा में तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिफल प्रतीत होता है। इस मत के व्यावहारिकरूप पुष्टि सम्प्रदाय का उद्देश्य जहाँ एक ओर भक्त की वासना का समुचित परिष्कार कर उसे कृष्णाभिमुख करना और फिर साधक का

ब्रह्म से सम्बन्ध स्थापित करना था, वहाँ दूसरी ओर राजसी ठाट-बाट और विलासिता की सारी सामग्री का केन्द्र कृष्ण को मानकर मानव-मानस की वासना-विचियों को मोड़ देना भी था। स्वयं वल्लभाचार्य ने उत्तरी भारत की राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल को देखा था। अकबर के राज्य की व्यवस्था तथा उसकी उदारता, धार्मिक सहिष्णुता, वदान्यता, साहित्य एवं कला-प्रियता का साक्षात्कार वे नहीं कर सके थे। यही कारण है कि उनके ग्रन्थों में तत्कालीन शासन की कटु आलोचना मिलती है। उनका 'षोडश ग्रन्थ' उनके हृदय की इस भावना के पूर्णतया परिचायक हैं।

इससे तो हम यही निष्कर्ष निकालते हैं कि अकबर के समय से पूर्व भारतवर्ष की सामाजिक दशा सन्तोष-जनक नहीं थी, परन्तु यह तथ्य भी स्मरणीय है कि हिन्दू-समाज में व्याप्त यह असन्तोष की भावना केवल विदेशी सत्ता की परुषता के कारण ही नहीं थी अपितु उसके आन्तरिक संगठन में भी ऐसी कुरीतियाँ घर कर गईं थीं कि उसका सारा कलेवर ही जर्जर हो गया था। रोग शारीरिक ही नहीं मानसिक भी था, जिसका उपचार सर्व प्रथम अपेक्षणीय था। पारस्परिक वैमनस्य, साम्प्रदायिक कट्टरता, जाति भेद और छुआ-छूत का भूत हिन्दू जनता के सिर पर बुरी तरह खेल रहा था, जिसका सम्बन्ध मुसलमानी शासन सत्ता से औचित्य-अनौचित्य की ओर से आँखें मूँदकर ही जोड़ा जा सकता है। मध्यकालीन सभी सन्तों और महात्माओं ने इन कुप्रथाओं को दूर करने के लिये संकेत करके ही नहीं, उठा-उठा कर समाज के सामने रक्खा था। पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व की सूरदास जी की रचनाओं में भी इन परम्परागत बातों का उल्लेख मिलता है। नारी-निन्दा तो इन सन्तों को मानो गुरुमंत्र के रूप में मिली थी जो स्पष्ट ही संसार के मिथ्यात्व का प्रचार करने वाले शंकर के दर्शन की देन थी, किन्तु आश्चर्य है कि नारी की निन्दा में अनेक दोहों और पदों का प्रणयन करने वाले, उसे संसार

सागर-संतरण के समय कण्ठ में बँधी हुई शिल समझने वाले ये साधक स्वय नारी भावना की अवहेलना नहीं कर सके और प्राय नारीरूप में ही भगवान् को अपने प्रेम का पुष्पोहार समर्पित करते रहे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अपने 'मानस' के बालकाण्ड में तत्कालीन समाज का चित्र-चित्रित किया है। सभव है कि मुसलमानी दुर्व्यवस्था और अत्याचारों के कारण ये भावनाएँ और भी दृढ़ हो गई हों। मुसलमानों का मजहब स्वय भी निवृत्ति परक था इससे सन्तों की वैराग्य भावना को और भी प्रोत्साहन मिला। कदाचित् इसी कारण से मध्ययुग के मनुष्यों में व्यक्ति-वादिता का प्राधान्य रहा। समाज की सास्कृतिक और साहित्यिक प्रगति में बाधा डालकर इस व्यक्तिवाद ने उसका बहुत अहित किया। मध्ययुग के भक्ति-आन्दोलन को तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के साथ रख कर देखने से हमें बहुत सी गुत्थियाँ उलझी हुई दीख पडती हैं। शान्तिप्रिय व्यक्ति ऐसे समाज को दूर से ही प्रणाम कर यदि कोलाहल की इस अवनी को त्याग कर क्षितिज के 'उस पार' जाना चाहे तो क्या आश्चर्य ? आँखें मूँद लेने पर भी जब हमारे कवि सूरदास को संसार के कोलाहल ने न छोडा, तो वे संसार को त्याग कर विरक्त हो गए और स्थायीरूप से लीलामय भगवान् कृष्ण के व्रजधाम में रह कर व्यक्तिगत साधना में आत्म-विभोर हो गए। फिर जीवन पर्यन्त वे व्रज से न निकले, निकले तो उस गोलोक की तैयारी करके, जिसकी प्रतिच्छाया स्वयं व्रज और वृन्दावन हैं। सूरदास जी के दार्शनिक सिद्धान्तों और भक्ति का विवेचन करते समय हम सूर के उन विचारों का उल्लेख करेंगे जो ससार के प्रति उनकी घृणा के स्पष्ट परिचायक हैं।

साहित्यिक-परिस्थितियाँ—

सूर साहित्य की पृष्ठभूमि पर विचार करते समय हमें उन साहित्यिक परम्पराओं को भी दृष्टि में रखना चाहिए, जो सूर को अपने से पहले

साहित्यकारों से नमूने के रूप में उपलब्ध हुई थीं किन्तु खेद है कि उन साहित्यिक-परम्पराओं के विषय में हिन्दी के साहित्यकारों ने बहुत कम छान-बीन की है। सूरदास जी के सूरसागर के विषय मे आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं :—

"भिन्न-भिन्न लीलाओ के प्रसंग लेकर इस सच्चे रस-मग्न कवि ने अत्यन्त मधुर और मनोहर पदों की झड़ी-सी बाँध दी है। इन पदों के सम्बन्ध में ध्यान देने की सब से पहली बात यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी यह इतनी सुडौल और परिमार्जित है। यह रचना इतनी प्रबल और काव्याङ्ग पूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं। अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीत परम्परा का चाहे वह मौखिक ही रही हो, पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।" मौखिक गीतों को प्रधानता देते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है, "देश की काव्यधारा के मूल प्राकृतिक स्वरूप का परिचय हमें चिरकाल से चले आते हुए इन्हीं गीतों से मिल सकता है।" आगे चल कर मैथिल कोकिल कवि विद्यापति की पदावली से सूर के गीतों का सम्बन्ध स्थापित करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है:—

"सूर के शृङ्गारिक पदों की रचना बहुत कुछ विद्यापति की पद्धति पर हुई है। यही नहीं, कुछ पदों के तो भाव भी बिल्कुल मिलते हैं। 'सूरसागर' में जगह-जगह दृष्टिकूट वाले पद मिलते हैं। यह भी विद्यापति का अनुसरण है।"

गेय पदों वाली यह साहित्यिक पद्धति अपभ्रंश काल से ही चली आ रही थी, जो मैथिल कोकिल विद्यापति की पदावली में देश-भाषा के रूप में प्रस्फुटित हुई थी। इधर सन्तों ने भी इस परम्परा को अपना कर अनेक पदों की रचना की। यदि अमीर खुसरो की रचनाओं को प्रामाणिक

मानें—जिसके सम्बन्ध में अभी सन्देह है—तो भाषा में इस शैली को अपनाने वाला सर्व प्रथम कवि खुसरो ही माना जायगा। मानव-हृदय की मधुरतम भावनाओं की व्यजना करने में गीत-शैली सर्वोत्कृष्ट है और ब्रजभाषा अपने माधुर्य एवं कोमलता के लिए प्रसिद्ध है ही। अतएव ब्रजभाषा में यह शैली जितनी फबती है, उतनी खड़ी बोली में नहीं। शताब्दियों तक ब्रजभाषा उत्तरी भारत की एक छत्र साहित्यिक भाषा रही और उसमें असख्य पदों की रचना हुई, जिन का प्रभाव आज भी स्त्रियों में प्रचलित खड़ी बोली के गीतों में पाया जाता है। यह गीत परम्परा मौखिक रूप में ही सही—हमारे साहित्यिक जीवन में बड़ी महत्त्व-पूर्ण है, क्योंकि इसमें समाज के सांस्कृतिक स्तर का पूर्णतया स्पष्ट प्रतिबिम्ब मिलता है। इन घरेलू गीतों के द्वारा हमें भक्ति के सामान्य विकास का परिचय भी सहज ही प्राप्त हो सकता है। हम आगे बताएँगे कि किस प्रकार 'सहजिया' और 'बाउल' सम्प्रदाय की भक्ति-भावना का सम्बन्ध उस प्रान्त में प्रचलित लोक-गीतों से लगाया जा सकता है। सूरदास जी ने भी राधाकृष्ण की प्रेम-लीलाओं के जो गीत अपने कोकिल कण्ठ से गाए वे इसी परम्परा के आधार पर खड़े हैं। सगीत के आचार्य 'ध्रुव पद' राग की उत्पत्ति का अनुसन्धान करते-करते बारहवीं शताब्दी तक पहुँच गए हैं। प्रसिद्ध गायक 'बैजू-बावरा' एक ऐतिहासिक व्यक्ति था, जिस की ख्याति 'तानसेन' से भी पहले हो चुकी थी, उसके पद आज भी प्रायः गाए जाते हैं। इन सब बातों से ज्ञात होता है कि गेय-पद-परम्परा भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन है। हम यह पहले कह चुके हैं कि यह परम्परा अपभ्रंश काल से ही चली आ रही है। बौद्ध-सिद्धों, और नाथों के अनेक गेय पद आज भी उपलब्ध हैं। महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर और मुक्ताबाई के भक्ति विषयक पद जिनकी रचना हिन्दी ही में हुई थी, आज भी गाए जाते हैं। नामदेव ने तो हिन्दी और मराठी दोनों ही भाषाओं में पद लिखे थे।

इस गेय-पद-शैली के साथ-साथ लीला-गान-परम्परा का भी पर्याप्त प्रचलन पाया जाता है। यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय की स्थापना से इस परम्परा में नवीन चेतना और स्फूर्ति का स्पन्दन हुआ, परन्तु यह माननीय नहीं जँचता कि उनसे पहले लीला-गान की परम्परा प्रचलित ही नहीं थी। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी अपने 'हिन्दी-साहित्य' में लिखते हैं:—

"बारहवीं शताब्दी के कवि जयदेव के संस्कृत पद, बौद्ध-साधकों के गान, और चण्डीदास तथा विद्यापति के पद इस बात के सबूत हैं कि भगवान् के अवतार को लक्ष्य बना कर लीला-गान करने वाले भक्तों में सूरदास से पहले के तीन भक्तों की चर्चा प्राय. की जाती है—विदिशा के संस्कृत-कवि जयदेव, बंगाल के चण्डीदास और मिथिला के विद्यापति।"

इसमें सन्देह नहीं कि लीला-गान-परम्परा बहुत प्राचीन-काल से चली आ रही थी। सम्भव है प्राचीन परम्परा भागवत की लीला परम्परा से भिन्न हो, जैसा कि डा० हजारीप्रसाद जी ने लिखा है:—

संभवतः दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में भागवत परम्परा से भिन्न भी कोई लीला-गान की शास्त्रीय परम्परा थी। जयदेव का 'गीत-गोविन्द' पूर्ण रूप से भागवत परम्परा का गीत नहीं है, उसमें राधा प्रमुख गोपी है, जो भागवत्त में अपरिचित है, फिर 'गीत-गोविन्द' का रास 'वसन्त रास' है जब कि भागवत का "शरद् रास।" पश्चिमी भारत में लीला-गान का प्रचार बतलाते हुए द्विवेदी जी ने क्षेमेन्द्र के 'दशावतार-चरित' और चन्द के 'दशम्' का उल्लेख किया है।

सूर-साहित्य पर प्रभाव—

सूर साहित्य के अध्ययन से हम सहज ही यह अनुमान लगा सकते

हैं कि सूरदास जी के साहित्य पर पूर्व प्रचलित परम्पराओं का कितना प्रभाव पडा। हम पहले बता चुके हैं कि सूर उच्च कोटि के भक्त थे और एक परिनिष्ठित सम्प्रदाय में दीक्षित थे। सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले के पदों में उन परम्पराओ का जितना प्रभाव लक्षित होता है, उतना उनके साम्प्रदायिक साहित्य पर नहीं। उनके विनय के पदों में भी केवल सामाजिक परिस्थितियो की ही झाँकी मिलती है, राजनीतिक उलझनों से सूर का कोई सरोकार प्रतीत नहीं होता। उनके विनय के पदों में समाज का जो चित्रण हुआ है उसमें परम्परागत विचारों का ही बाहुल्य है जो प्राय सभी सन्त एव भक्त कवियों की रचनाओं में समान रूप से उपलब्ध होते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि समाज की विषम परिस्थितियों से ऊब कर सन्त और भक्त महात्मा उसे आध्यात्मिक मार्ग की ओर उन्मुख करने के लिए दीर्वकाल से सतत प्रयत्नशील थे। प्रेममार्गी कवियों के अतिरिक्त इस युग के सभी कवियों ने सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों से असन्तोष ही प्रकट किया है। जायसी ने शेरशाह के राज्य का अवश्य रुचिकर वर्णन सक्षेप में किया है। यद्यपि शेरशाह के समय में परिस्थितियाँ बहुत कुछ परिवर्तित हो गई थीं, तथापि जायसी के वर्णन को पूर्णरूपेण निष्पक्ष नहीं कहा जा सकता। तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारों के लेखों से भी परिस्थितियों का यथार्थ एव विशद वर्णन नहीं मिलत: । सूरदास के साहित्य में धार्मिक अराजकता अथवा अत्याचार का कोई संकेत नहीं मिलता, केवल सामाजिक दुर्व्यवस्था का ही कुछ विवरण मिलता है। कुछ आलोचकों ने उनके पदों में विशेष परिस्थितियों के चित्रण के अनुमान लगाये हैं, परन्तु यह सब दूर की सूझ ही जान पडती है। सूर का 'चौपड' वाला पद सामाजिक परिस्थिति का निर्देशक बतलाया जाता है और सम-सामयिक ऐतिहासिक विवरणों के अनुसार उस काल में यह खेल समाज में खूब प्रचलित भी था किन्तु सूर का उद्देश्य

तो चौपड़ के रूपक द्वारा जन-साधारण को सचेत करना ही प्रतीत होता है, सामाजिक चित्रण करना नहीं।

सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् का जो सूर का साहित्य है, उसमें सामाजिक अथवा राजनीतिक चित्रण खोजना तो आकाश-पुष्पों के प्रति लालायित होना ही कहा जा सकता है। उस साहित्य में व्रज-वासियों के आनन्द, उत्सव आदि का जो चित्रण उन्होंने किया है, उसे सामाजिक-परिस्थितियों का प्रतीक माना जाय तो वह युग सतयुग से भी उत्कृष्ट ठहरेगा, परन्तु इस प्रकार की अटकल लगाने से पूर्व यदि पुष्टि-मार्ग के सिद्धान्तों पर दृष्टि-प्रक्षेप कर लिया जाय—जिसके अनुसार गोप, राधा, कृष्ण, वृन्दावन आदि सब, इस लोक से नहीं गोलोक से सम्बन्ध रखने वाली बातें हैं—तो ज्ञात होगा कि सूर के ये वर्णन इस भौतिक जगत् से सम्बन्ध ही नहीं रखते। विषय की दृष्टि से सूरदास जी में जहाँ एक ओर पूर्ण मौलिकता है, वहाँ दूसरी ओर वे परम्परा और सम्प्रदाय दोनों से ही प्रभावित भी हैं। इस विषय में लीला-गान-परम्परा का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। उत्सवों, पर्वों आदि का वर्णन भी परम्पराओं और लोक-गीतों पर आधारित कहा जा सकता है। पौराणिक कथाओं और प्रसंगों का उल्लेख तथा विवरण भी किसी एक पुराण के आधार पर नहीं कहा आ सकता। हम आगे के प्रकरण में बतलायेंगे कि पुष्टि-सम्प्रदाय में भागवत की मान्यता होने पर भी अन्य पुराण भी आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। सूर ने कवि होने के नाते पुराणों की कथाओं को आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन के साथ ग्रहण किया है, फिर भी उन पर साम्प्रदायिक प्रथाओं का ही विशेप प्रभाव कहा जा सकता है, यह हम आगे बतायेंगे।

सूरदास जी के सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि यद्यपि वे पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित थे और जीवन-पर्यन्त सम्प्रदाय की सेवा प्रणाली

हैं कि सूरदास जी के साहित्य पर पूर्व प्रचलित परम्पराओं का कितना प्रभाव पड़ा। हम पहले बता चुके हैं कि सूर उच्च कोटि के भक्त थे और एक परिनिष्ठित सम्प्रदाय में दीक्षित थे। सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले के पदों में उन परम्पराओं का जितना प्रभाव लक्षित होता है, उतना उनके साम्प्रदायिक साहित्य पर नहीं। उनके विनय के पदों में भी केवल सामाजिक परिस्थितियों की ही झाँकी मिलती है, राजनीतिक उलझनों से सूर का कोई सरोकार प्रतीत नही होता। उनके विनय के पदों में समाज का जो चित्रण हुआ है उसमें परम्परागत विचारों का ही बाहुल्य है जो प्राय सभी सन्त एवं भक्त कवियों की रचनाओं में समान रूप से उपलब्ध होते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि समाज की विषम परिस्थितियों से ऊब कर सन्त और भक्त महात्मा उसे आध्यात्मिक मार्ग की ओर उन्मुख करने के लिए दीर्घकाल से सतत प्रयत्नशील थे। प्रेममार्गी कवियों के अतिरिक्त इस युग के सभी कवियों ने सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों से असन्तोष ही प्रकट किया है। जायसी ने शेरशाह के राज्य का अवश्य रुचिकर वर्णन सक्षेप में किया है। यद्यपि शेरशाह के समय में परिस्थितियाँ बहुत कुछ परिवर्तित हो गई थीं, तथापि जायसी के वर्णन को पूर्णरूपेण निष्पक्ष नहीं कहा जा सकता। तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारों के लेखों से भी परिस्थितियों का यथार्थ एव विशद वर्णन नहीं मिलता। सूरदास के साहित्य में धार्मिक अराजकता अथवा अत्याचार का कोई संकेत नहीं मिलता, केवल सामाजिक दुर्व्यवस्था का ही कुछ विवरण मिलता है। कुछ आलोचकों ने उनके पदों में विशेष परिस्थितियों के चित्रण के अनुमान लगाये हैं, परन्तु यह सब दूर की सूझ ही जान पड़ती है। सूर का 'चौपड़' वाला पद सामाजिक परिस्थिति का निर्देशक बतलाया जाता है और सम-सामयिक ऐतिहासिक विवरणों के अनुसार उस काल में यह खेल समाज में खूब प्रचलित भी था किन्तु सूर का उद्देश्य

तो चौपड़ के रूपक द्वारा जन-साधारण को सचेत करना ही प्रतीत होता है, सामाजिक चित्रण करना नहीं।

सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् का जो सूर का साहित्य है, उसमें सामाजिक अथवा राजनीतिक चित्रण खोजना तो आकाश-पुष्पों के प्रति लालायित होना ही कहा जा सकता है। उस साहित्य में व्रज-वासियों के आनन्द, उत्सव आदि का जो चित्रण उन्होंने किया है, उसे सामाजिक-परिस्थितियों का प्रतीक माना जाय तो वह युग सतयुग से भी उत्कृष्ठ ठहरेगा, परन्तु इस प्रकार की अटकल लगाने से पूर्व यदि पुष्टि-मार्ग के सिद्धान्तों पर दृष्टि-प्रक्षेप कर लिया जाय—जिसके अनुसार गोप, राधा, कृष्ण, वृन्दावन आदि सब, इस लोक से नहीं गोलोक से सम्बन्ध रखने वाली बातें हैं—तो ज्ञात होगा कि सूर के ये वर्णन इस भौतिक जगत् से सम्बन्ध ही नहीं रखते। विषय की दृष्टि से सूरदास जी में जहाँ एक ओर पूर्ण मौलिकता है, वहाँ दूसरी ओर वे परम्परा और सम्प्रदाय दोनों से ही प्रभावित भी हैं। इस विषय में लीला-गान-परम्परा का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। उत्सवों, पर्वों आदि का वर्णन भी परम्पराओं और लोक-गीतों पर आधारित कहा जा सकता है। पौराणिक कथाओं और प्रसंगों का उल्लेख तथा विचरण भी किसी एक पुराण के आधार पर नहीं कहा जा सकता। हम आगे के प्रकरण में बतलायेंगे कि पुष्टि-सम्प्रदाय में भागवत की मान्यता होने पर भी अन्य पुराण भी आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। सूर ने कवि होने के नाते पुराणों की कथाओं को आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन के साथ ग्रहण किया है, फिर भी उन पर साम्प्रदायिक प्रथाओं का ही विशेष प्रभाव कहा जा सकता है, यह हम आगे बतायेंगे।

सूरदास जी के सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि यद्यपि वे पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित थे और जीवन-पर्यन्त सम्प्रदाय की सेवा प्रणाली

में ही लगे रहे, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनके ऊपर सम-सामयिक अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों का प्रभाव बिल्कुल नहीं पडा था। जहाँ एक ओर उनके साहित्य में हमें नाथ, सिद्ध आदि सम्प्रदायों के संकेतों के साथ-साथ सन्तों की वाणियों में प्रचलित पारिभाषिक शब्दावली तथा दार्शनिक सिद्धान्तों के उल्लेख मिलते हैं, वहाँ दूसरी ओर अन्य वैष्णव सम्प्रदायो का प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होता है। सूर की भक्ति-भावना का विवेचन करते हुए हम देखेंगे कि वैष्णव आचार्यों के आगमन के पूर्व व्रजभूमि में शिव-भक्ति का प्रचार था और स्वयं सूरदास भी अपने सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व यदि शैव नहीं थे तो शिव-भक्ति के प्रभाव से शून्य भी नहीं थे। अतएव सूर-साहित्य के अध्येता के लिए 'सूर' के समकालीन वैष्णव-सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का थोडा-सा ज्ञान आवश्यक है। अगले प्रकरण में वैष्णव-सम्प्रदायों का विवेचन करते हुए हम यह भी बतायेंगे कि दक्षिण का भक्ति-आन्दोलन में कहाँ तक योग है।

तृतीय अध्याय

सूरदास जी का साहित्य

ग्रन्थ-रचना :—

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट, इतिहास-ग्रन्थ एवं पुस्तकालयों में सुरक्षित ग्रन्थों की नामावली के अनुसार सूर से सम्बद्ध २५ ग्रन्थ बताए जाते हैं जिनमें बहुत से तो ऐसे हैं जो प्राय: सूर-सागर के ही अंश हैं और कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं जो केवल टेक के ही कारण सूर-कृत माने हुए हैं। आज तक इस प्रकार के जिन ग्रन्थों का पता चलता है, वे निम्न लिखित हैं।

१. सूर-सारावली।
२. भागवत-भाषा।
३. सूर-रामायण।
४. गोवर्धन-लीला (सरस-लीला)।
५ भँवर-गीत।
६ प्राण-प्यारी।
७ सूरसाठी।
८ सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद।
९ एकादशी महात्म्य।
१०. साहित्य-लहरी।
११. दसम-स्कन्ध भाषा।
१२. मानलीला।
१३. नागलीला।
१४. दृष्टिकूट के पद।
१५. सूर-पचीसी।
१६. नल-दमयन्ती।
१७. सूर-सागर।
१८. सूरसागर-सार।
१९ राधा-रस-केलि कौतूहल।
२०. दान-लीला।
२१. व्याहलो।
२२. सूर-शतक।
२३. सेवाफल।
२४. हरिवंश टीका (संस्कृत)।
२५. रामजन्म।

इन ग्रन्थों में से कुछ प्रकाशित और कुछ अप्रकाशित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदास के पदों एव उनके नाम से प्रचलित पदों का संग्रह लिख-लिख कर कुछ महानुभावों ने सुरक्षित रक्खा और जब अनुसन्धान कार्य प्रारम्भ हुआ तो वे हस्तलिखित प्रतियाँ सूर के नाम से अलग ग्रन्थ मान ली गईं।

आधुनिक आलोचकों ने सूर की तीन रचनाएँ—सूर-सारावली, साहित्य-लहरी और सूरसागर—ही प्रामाणिक मानी हैं। वार्ता-साहित्य में सूर-साहित्य के विषय में दो उक्तियाँ प्रसिद्ध हैं —मूल चौरासी वार्ता में—सूरदास जी ने सहस्रावधि पद किये हैं 'ताको सागर कहिये सो जगत् में प्रसिद्ध भये' तथा गोस्वामी हरिराय कृत सूरदास जी की वार्ता में लिखा है।

"सो तब सूरदास जी मन में विचारे, जो मैं तो मन में सवा लाख कीर्तन प्रकट करिवे को सकल्प कियो है। सो ता में तें लाख कीर्त्तन तो प्रकट भये हैं सो भगवत इच्छा तें पच्चीस हजार कीर्त्तन और प्रकट करते हैं।" इसी वार्ता के ६० पृष्ठ पर लिखा है—

"और सूरदास जी ने श्री ठाकुर जी के लक्षावधि-पद किये हैं।" इस एक लाख पदों वाली बात को सूर-सारावली के ११०२ और ११०३ संख्या वाले पदों से भी सिद्ध किया जाता है। सूर-सारावली में लिखा है—

कर्म-योग पुनि ज्ञान-उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौ लीला भेद बतायो ॥११०२॥
ता दिन ते हरिलीला गाई एक लक्ष पद बन्द।
ता को सार सूर-सारावलि, गावत अति आनन्द ॥११०३॥

इस सहस्रावधि एवं 'एक लक्ष पद बन्द' वाली उक्ति को लेकर आधुनिक आलोचकों ने बड़ी दूर की कौड़ी लाने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि हरिराय जी ने स्पष्ट सवा लाख पदों का उल्लेख किया है किन्तु अब तक के अनुसन्धान के फल स्वरूप केवल ८,१० सहस्र पद ही प्राप्त हो सके हैं। डा० श्यामसुन्दरदास ने अपने ग्रन्थ—'हिन्दी भाषा और साहित्य' में केवल ६ हज़ार पद माने हैं, 'शिवसिंह-सरोज' में ६० हज़ार पद माने हैं। राधाकृष्णदास ने सूरसागर की भूमिका मे सवा लाख पद मान कर सहस्रावधि का अर्थ सहस्रों की अवधि किया है, 'सहस्र है अवधि जिनकी' ऐसा नहीं। उदयपुर के मोतीलाल मेनेरिया ने इस सहस्रावधि-पद संख्या को आधार मानकर अपने एक लेख में सूरसागर को एक हज़ार पदों की परिधि में समाप्त होने वाला ग्रन्थ बतलाया है। श्री द्वारकादास पारीख और प्रभुदयाल मित्तल ने अपने सूर-निर्णय में सूर की रचना का परिमाण गणित से निर्धारित किया है और संख्या ९३३५० निश्चित की है तथा इनके अतिरिक्त और भी लीला-सम्बन्धी अनेक पद माने हैं। इन महानुभावों की आनुमानिक गणना के हिसाब से सूर के पदों की संख्या सवा लाख से भी कहीं अधिक पहुँचती हैं। आज सूर-सागर की जितनी प्रतियाँ हमें उपलब्ध होती हैं उनकी पद-संख्या में महान् अन्तर है। नागरी-प्रचारिणी की खोज रिपोर्टों में सम्वत् १७९८ की एक ऐसी प्रति का विवरण दिया गया है जिसमें दशम स्कन्ध का केवल एक ही पद है और द्वादश स्कन्ध के १७५४ पद। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे-जैसे पद प्राप्त होते गए, उनको पुस्तकाकार में संकलित कर लिया गया। गोस्वामी हरिराय जी ने 'सूरदास जी की वार्ता' प्रसंग तीन के 'भाव-प्रकाश' में लिखा है—

"तामें ज्ञान वैराग्य के न्यारे-न्यारे भक्ति-भेद, अनेक भगवत अवतार, सो इन सबन की लीला को वर्णन कियो है।

आगे प्रसंग ४ की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—

"पाछे देसाधिपति ने आगरे में आय के सूरदास के पदन की तलास

कीनी, जो कोऊ सूरदास जी के पद ल्यावै, तिनकूँ रुपैया और मौहर देय, सो वे पद फारसी में लिखाय कें वाँचै।"

इसी प्रकार वार्ता प्रसग १० में उल्लेख है—

"सूरदास जी तुमने जो सवा लाख कीर्त्तन को मनोरथ कियो है सो तौ पूरन होय चुको है, जो पच्चीस हजार कीर्तन मैं ने पूरन करि दिए हैं ताश्रो तुम अपने कीर्तन को चौपड़ा देखो इत्यादि।

वार्ता-साहित्य के इन उल्लेखों से ऐसा आभास मिलता है कि सूरदास जी के कीर्तन-पदों का संकलन उनके जीवनकाल में ही हो गया था, तथापि उनके समय की कोई प्रति उपलब्ध नहीं होती। सूरदास जैसे सिद्ध कवि के लिए अपने भक्ति-भाव-भरित दीर्घ जीवन-काल में सवा लाख पदों की रचना करना कोई असम्भव वात नहीं थी। इस कारण हम सहज ही निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँच सक्ते हैं।—

१. सूर ने अवश्य सवा लाख के लगभग पदों की रचना की।
२. छ. वर्ष की अल्पायु में वे गृह-त्याग कर चार कोस की दूरी पर एक गाँव में रहने लगे और वहाँ भक्त एव सेवकों को विरह के पद सुनाते थे। १८ वर्ष की आयु तक यही क्रम चलता रहा, इस दीर्ध काल में उन्होने कितने ही पदों की रचना की होगी।
३ १८ वर्ष की अवस्था से ३१ वर्ष की आयु तक गौघाट पर रहे। उनकी वार्ता में लिखा है —

'सूरदास को कण्ठ वहुत सुन्दर हतो, सो गान-विद्या में चतुर और सगुन वताइवे में चतुर, उहाँ सेवक वहुत भये, सो सूरदास जगत में प्रसिद्ध भये।"

इन तेरह वर्षों में सरस्वती-कण्ठाभरण आशु-कवि सूर ने निस्सन्देह अगणित पदों की रचना की होगी।

४. इसके पश्चात् लग-भग ७०-७२ वर्ष के साम्प्रदायिक जीवन में भगवान् की लीला के विषय में इतने पद रचना करके गाये होंगे, जिन की गणना करना अत्यन्त कठिन है। अपनी अप्रतिम प्रतिभा, कलित कल्पना एवं भाव-भरे अन्त करण से न जाने कितने छन्द, राग-रागनियाँ और भावों की उद्भावना प्रज्ञाचक्षु सूर ने की होगी।

कालान्धकार की घोर कालिमा के स्तरों के नीचे सूर के न जाने कितने पद दब गए होंगे जो आज अलभ्य हैं। परन्तु उनकी उपलब्धि के अभाव में उनकी संख्या में उन्मुक्त अनुमान लगाना अनुचित है। काल-रचना के विचार से सूर के पदो को हम तीन भागों में बांट सकते हैं।

१. पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले के पद।
२ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् श्री वल्लभाचार्य जी के जीवन-काल तक के पद।
३. गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय के पद।

इन में प्रथम दो काल तो ऐसे हैं जिनमें सूर की रचनाओं के नियमित संग्रह का न तो कोई अवसर ही था और न साधन ही। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय में जब श्रीकृष्ण के स्वरूप बाहर जाने लगे तो नित्य कीर्तन और वर्षोत्सव के पदों का संग्रह आवश्यक समझा गया। इसलिए वे कीर्तन संग्रह रूप में प्रस्तुत किए गए, जिन का प्रचार विभिन्न स्थानों में हुआ। आज भी वे आचार्यों के घरों में—जीर्ण-शीर्ण अवस्था ही में सही—वास्तविक रूप में पाए जाते हैं। कुछ समय पश्चात् ये संग्रह बोझिल होने के कारण 'नित्य-कीर्तन', 'वर्षोत्सव' और 'वसन्तधमार' शीर्षक तीन संग्रहों के रूप में परिणत हो गए। लेखक ने अपनी ब्रजयात्रा में सहस्रों की संख्या में ये संग्रह देखे हैं। इस प्रकार से संग्रह-ग्रन्थ ही

मूलरूप में सूरसागर के जनक हैं। सूरसागर के अतिरिक्त अन्य सागरों का जन्म भी इन्हीं सग्रहों से हुआ, जैसे कृष्णसागर, परमानन्दसागर, नन्द-सागर आदि। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूरदास जी के केवल वे ही पद प्राप्य हैं जो उन सग्रहों में दिए हैं और वे भी सारे पद नहीं मिलते, क्योंकि जिन महानुभावों के अधिकार में वे हैं, वे उन्हें 'जैसे परम कृपन कर सोना' गुप्त रखते हैं। पैतृक सम्पत्ति के रूप में उसकी रक्षा करते हैं। इस दिशा में पर्याप्त अन्वेषण करने की आवश्यकता है। इन्हीं पदों के सकलन आजकल विभिन्न ग्रन्थों के रूप में सूर के नाम से प्रचलित हैं। हम पहले कह चुके हैं कि इन में केवल तीन सग्रह विशेष-रूप से प्रसिद्ध हैं। 'सूरसारावली', 'साहित्यलहरी' और 'सूरसागर'। इन तीनों ग्रन्थों पर हम संक्षेप में विचार करेंगे।

सूर-सारावली—

यह ग्रन्थ सूरसागर के प्रारम्भ में दिया हुआ है। 'वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई' और 'नवलकिशोर प्रेस लखनऊ' से प्रकाशित दोनों ही सस्करणों के प्रारम्भ में यह ग्रन्थ छपा है। इस ग्रन्थ के नाम से तो ऐसा आभास होता है कि वह सूरसागर की भूमिका तथा साराश के रूप में प्रस्तुत हुआ है। परन्तु वास्तव में न तो वह सूरसागर की भूमिका ही है और न उसका साराश ही। इसमें कुल ११०७ पद हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है —

अथ 'श्री सूरदास' जी रचित सूर-सागर-सारावली तथा सवा लाख पदों का 'सूचीपत्र'। ग्रन्थ का श्रीगणेश 'वन्दौ श्रीहरिपद सुखदाई' किया है जबकि सूरसागर का प्रारम्भ भी कुछ शाब्दिक हेर-फेर के साथ इसी पद से हुआ है। सूरसागर का पद है — 'चरण कमल वन्दौ हरिराई'। कदाचित् मङ्गलाचरण का यह श्लोक प्रक्षिप्त है, क्योंकि सूरसारावली के प्रारम्भ में मङ्गलात्मक पद दूसरा है —

'अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनाशी' और मङ्गला-चरण के प्रारम्भ में एक अर्धाली होली के रूपक की है:—

'खेलत यह विधि हरि होरी हो, होरी हो वेद-विदित यह वात'

इस पद से प्रतीत होता है कि सूरदास जी ने इस संसार को होली के खेल का रूपक माना है जिसमे लीला-पुरुष की अद्भुत लीलाएँ निरन्तर चलती रहती हैं। सारावली के १६वें पद में इसी रूपक का विस्तार दिया है:—

आज्ञा करी नाथ चतुरानन करो सृष्टि-विस्तार।
होली खेलन की विधि नीकी, रचना रचे अपार।

फिर आगे के पदों में उसी सृष्टि की रचना का स्वरूप सूरदास जी ने दर्शाया है और ३५८-५९वें पदों में इस रूपक को समाप्त किया है—

सुर अरु असुर रची हरि रचना सो जग प्रकटहि कीन्हीं।
क्रीड़ा करी वहुत नाना विधि, निगम वात कहु चीन्हीं।
यहि विधि होरी खेलत वहुत भाति सुख पायो।
धरि अवतार जगत में नाना भगतनि चरित दिखायो।

इसके अनन्तर फिर वे लिखते हैं—

अंश कला अवतार वहुत विधि रामकृष्ण अवतारी।
सदा विहार करत व्रजमण्डल, नन्द-सदन सुखकारी।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में इस होली के खेल का ही निर्देश किया गया है। इसी होली के रूपक में सृष्टि की उत्पत्ति का भी सुन्दर वर्णन है। यह सृष्टि-वर्णन श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणो के आधार पर हुआ है। संक्षेप में सूरसारावली का सार इस प्रकार है—

क्रीडा करते भगवान् को सृष्टि-रचना का विचार हुआ। उन्होंने अपने आप में से ही काल पुरुष की अवतारणा की, जिसमें माया ने क्षोभ उत्पन्न किया और प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुण प्रादुर्भूत हुए। इन तीन गुणों से पचमहाभूत, पञ्च-तन्मात्रा, चार अन्त.करण और दस प्राणो की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार २८ तत्त्वो का प्रादुर्भाव हुआ। तत्पश्चात् नारायण की नाभि से कमल और कमल से ब्रह्मा का उद्भव हुआ। ब्रह्मा ने २०० वर्ष पर्यन्त तप किया जिसके फलस्वरूप उन्हें हरि के दर्शन हुए। फिर उन्होंने ब्रह्मा को सृष्टि-रचना की आज्ञा दी और ब्रह्मा ने १४ लोक वैकुण्ठ पाताल की रचना होली के खेल के रूप में ही कर डाली। ब्रह्मा के दस पुत्र हुए तब शतरूपा और स्वयभू का जन्म हुआ। भगवान् ने पृथ्वी की रक्षा के लिए वाराह अवतार धारण किया। कपिलरूप में साख्य शास्त्र का प्रवचन किया और देवहूति को दिया। ८ लोकपालों की उत्पत्ति की और ७ लोक ९ खण्ड ७ द्वीप, वन उपवन, नदी, पर्वत आदि का निर्माण किया। इसके पश्चात् २४ अवतारों का वर्णन होता है। बीच-बीच में ध्रुव की कथा और हयग्रीव का वर्णन आता है, हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद की कथा आती है। छद-संख्या ३६० से कृष्णावतार की कथा प्रारम्भ होती है और कृष्ण से सम्बद्ध समस्त लीलाओं का उसमें समावेश है। छंद-सख्या ९३७ से ९६६ तक दृष्टिकूट पदों की सूची है और अन्त में लिखा है, 'इति दृष्टिकूट-सूचनिका सम्पूर्ण। इसके बाद रासलीला का वर्णन है। इस लीला के आनन्द में विभोर कवि गुरु का स्मरण करता है जिसकी कृपा से वह इस अनिर्वचनीय आनन्द का अधिकारी बना—

> गुरु परसाद होत यह दर्शन सरसठ वरस प्रवीन।
> शिव विधान तप करेऊ वहुत दिन तऊ पार नहिं लीन्ह।

पद-सख्या १०१३ से १०१७ तक में विविध राग-रागनियों के नाम

गिनाए हैं। तत्पश्चात् वसन्त तथा होली के आनन्दोत्सवों का वर्णन है जो १०२८वें पद पर समाप्त होता है।

यह विधि क्रीड़त गोकुल में हरि निज वृन्दावन धाम।
मधुवन और कुमुद-वन सुन्दर वहुला वन अभिराम।
नन्द ग्राम संकेत खिदर वन और काम-वन धाम।
लोहवन माट वेलवन सुन्दर भद्र वृद्द् वन ग्राम।

इसके अनन्तर ६ पदों मे कृष्ण-कथा के गायकों, श्रोताओं और वक्ताओं के नाम गिनाए हैं। तत्पश्चात् युगलस्वरूप के उस महान् आनन्द का उल्लेख है जिसमे विचरण करते हुए कोटि कल्प भी एक निमिष सदृश व्यतीत हो जाते हैं। अन्त में जिस प्रकार होली की ज्वाला में सब कुछ भस्मसात् हो जाता है, उसी प्रकार उस आनन्द की समाप्ति भी संकर्षण के वदन से उत्पन्न हुई अग्नि से हो जाती है। सूरदास जी सारे वेदान्त के तत्त्व का संकेत करते हुए हरिलीला को सर्वोपरि वताते हैं।

कर्म-योग पुनि ज्ञान उपासना सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो, लीला भेद वतायो।
ता दिन ते हरिलीला गाई एक लक्ष पद वन्द।
ता को सार सूर-सारावलि, गावत अति आनन्द।

अन्तिम चार पदो में सारावली के पाठ के माहात्म्य का निर्देश किया गया है।

सूरसारावली के सम्वन्ध में अध्ययन करने से प्रकट हो जाता है कि यह ग्रन्थ न तो सूरसागर की भूमिका ही है और न ही उसका सारांश। सूर के आलोचको ने इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर विचार किया है। डा० दीनदयालु गुप्त ने इस सम्वन्ध में लिखा है—

"चार-छ शब्दों को पकड़ कर जो संभवत अब तक के छपे सूर-सागरों में नहीं मिलते इस ग्रन्थ को सूरकृत न कहना उचित नहीं है;

प्रक्षिप्त शब्द और वाक्य सूर के सभी ग्रन्थों में हो सकते हैं, इसलिए यह रचना लेखक के विचार से सूरकृत ही है।" 'सूर-निर्णय' के लेखकों ने सूर-सारावली की प्रामाणिकता पर विस्तार-पूर्वक विचार किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

(१) कथावस्तु, भाव, भाषा, शैली और रचना के दृष्टिकोण के विचार से यह सारावली निस्सन्देह सूरदास की प्रामाणिक रचना है। इसमें प्राप्त आत्मकथन और कवि छापों से भी इसकी पुष्टि होती है।

(२) सारावली की रचना वि० सम्वत् १६०२ में हुई है।

(३) सारावली का आधार 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' है।

(४) सारावली का दृष्टिकोण सैद्धान्तिक रहा है।

(५) विक्रम सम्वत् १६०२ पर्यन्त सूरदास जी ने श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध के अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदाय की नित्य और वर्षोत्सव की सेवा के जिन पदों को गाया था, उन्हीं का यह सूची-पत्र अथवा सिद्धान्तात्मक सार है। सृष्टि-रचना के लिए उसकी प्रारम्भिक विशिष्ट प्रस्तावना और होरी खेल की कल्पना इस सिद्धान्तात्मक दृष्टि की पुष्टि करते हैं।

(६) द्वादश स्कन्धात्मक भागवत के साररूप से इसमें प्रधानत २४ अवतारों का वर्णन और नित्य एव उत्सव की सेवा के पदों के सार-रूप से 'सरस संवत्सर-लीला' की भावनाओं का वर्णन है। इस प्रकार सारावली में कथावस्तु को दो भागों में पृथक्-पृथक् बाँटना भी 'ताकौ सार सूर-सारावलि' वाले कथन की पुष्टि करता है।

इस प्रकार सारावली सूरदास की एक स्वतत्र सैद्धान्तिक रचना है।

आचार्य मुन्शीराम जी सूरसारावली की प्रामाणिकता पर विश्वास करते हैं, परन्तु डा० व्रजेश्वर वर्मा ने अपने विस्तृत विवेचन में इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक माना है।

वास्तव में सूरसारावली सूरदास जी की ही रचना है। इसके नाम के कारण ही कुछ आलोचकों की यह भ्रान्त धारणा हो गई है कि यह सूरसागर की भूमिका अथवा सारांश है। यदि सूक्ष्मता से अनुशीलन किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि भागवत की कथा का निर्वाह सूरसागर की अपेक्षा सूरसारावली में अधिक सावधानी के साथ हुआ है। सूरसागर के तो बहुत से प्रसंगों का समावेश भी इस ग्रन्थ में नहीं है। भावात्मकता न होने के कारण सूरसारावली की शैली में सूरसागर की शैली से भिन्नता आ गई है। सूरसागर को विशेषत द्वादश स्कन्धात्मक स्वरूप को श्रीमद्भागवत के आधार पर रचित माना गया है और जिस प्रकार पुरुषोत्तम सहस्रनाम को 'भागवत-सार-समुच्चय' कहा गया है उसी प्रकार सूरसारा-वली को सूरसागर-सार-समुच्चय कहा जा सकता है।

सारावली के विषय से ही यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ होली-गान के रूप में लिखा गया है। इसमें न तो कहीं सूरसागर का ही उल्लेख है और न ही किसी ग्रन्थ के सारांश होने का संकेत है। यह तो एक स्वतंत्र रचना है, और इस प्रकार की रचनाओं की भक्त कवियो में परिपाटी भी रही है। गोस्वामी तुलसीदास जी की रामचरितमानसेतर रचनाओं को यदि उनके 'मानस' के साथ रख कर सार अथवा सारांश खोजने की मनोवृत्ति के चश्मे से देखा जाय तो उनमे से अनेक कृतियां 'मानस' के साररूप में दीख पड़ेंगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि आलोचक की ऐसी दृष्टि से साहित्य-जगत् में अराजकता की सृष्टि ही हो सकती है और कवि-कृतियां अप्रामाणिक सिद्ध हो जायेंगी।

यदि हम सूरसारावली को सूरसागर की भूमिका या अनुक्रमणिका मानें तो यह भी मानना पड़ेगा कि यह सूरसागर के पश्चात् लिखी गई होगी, जो हास्यास्पद ही प्रतीत होता है। वास्तविक बात तो यह है कि 'सूर-सारावली' सिद्धान्त रूप मे लिखा हुआ पृथक् शैली मे एक पृथक्

प्रक्षिप्त शब्द और वाक्य सूर के सभी ग्रन्थों में हो सकते हैं; इसलिए यह रचना लेखक के विचार से सूरकृत ही है।" 'सूर-निर्णय' के लेखकों ने सूर-सारावली की प्रामाणिकता पर विस्तार-पूर्वक विचार किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

) कथावस्तु, भाव, भाषा, शैली और रचना के दृष्टिकोण के विचार से यह सारावली निस्सन्देह सूरदास की प्रामाणिक रचना है। इसमें प्राप्त आत्मकथन और कवि छापों से भी इसकी पुष्टि होती है।

) सारावली की रचना वि० सम्वत् १६०२ में हुई है।

) सारावली का आधार 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' है।

) सारावली का दृष्टिकोण सैद्धान्तिक रहा है।

) विक्रम सम्वत् १६०२ पर्यन्त सूरदास जी ने श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध के अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदाय की नित्य और वर्षोत्सव की सेवा के जिन पदों को गाया था, उन्हीं का यह सूची-पत्र अथवा सिद्धान्तात्मक सार है। सृष्टि-रचना के लिए उसकी प्रारम्भिक विशिष्ट प्रस्तावना और होरी खेल की कल्पना इस सिद्धान्तात्मक दृष्टि की पुष्टि करते हैं।

६) द्वादश स्कन्धात्मक भागवत के साररूप से इसमें प्रधानत २४ अवतारों का वर्णन और नित्य एव उत्सव की सेवा के पदों के साररूप से 'सरस संवत्सर-लीला' की भावनाओं का वर्णन है। इस प्रकार सारावली में कथावस्तु को दो भागों में पृथक्-पृथक् बाँटना भी 'ताकौ सार सूर-सारावलि' वाले कथन की पुष्टि करता है।

इस प्रकार सारावली सूरदास की एक स्वतन्त्र सैद्धान्तिक रचना है।

आचार्य मुन्शीराम जी सूरसारावली की प्रामाणिकता पर विश्वास करते हैं, परन्तु डा० व्रजेश्वर वर्मा ने अपने विस्तृत विवेचन में इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक माना है।

वास्तव में सूरसारावली सूरदास जी की ही रचना है। इसके नाम के कारण ही कुछ आलोचकों की यह भ्रान्त धारणा हो गई है कि यह सूरसागर की भूमिका अथवा सारांश है। यदि सूक्ष्मता से अनुशीलन किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि भागवत की कथा का निर्वाह सूरसागर की अपेक्षा सूरसारावली में अधिक सावधानी के साथ हुआ है। सूरसागर के तो बहुत से प्रसंगों का समावेश भी इस ग्रन्थ मे नहीं है। भावात्मकता न होने के कारण सूरसारावली की शैली में सूरसागर की शैली से भिन्नता आ गई है। सूरसागर को विशेषत द्वादश स्कन्धात्मक स्वरूप को श्रीमद्भागवत के आधार पर रचित माना गया है और जिस प्रकार पुरुषोत्तम सहस्रनाम को 'भागवत-सार-समुच्चय' कहा गया है उसी प्रकार सूरसारा-वली को सूरसागर-सार-समुच्चय कहा जा सकता है।

सारावली के विषय से ही यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ होली-गान के रूप में लिखा गया है। इसमें न तो कहीं सूरसागर का ही उल्लेख है और न ही किसी ग्रन्थ के सारांश होने का संकेत है। यह तो एक स्वतंत्र रचना है, और इस प्रकार की रचनाओ की भक्त कवियों में परिपाटी भी रही है। गोस्वामी तुलसीदास जी की रामचरितमानसेतर रचनाओ को यदि उनके 'मानस' के साथ रख कर सार अथवा सारांश खोजने की मनोवृत्ति के चश्मे से देखा जाय तो उनमें से अनेक कृतियां 'मानस' के साररूप में दीख पड़ेंगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि आलोचक की ऐसी दृष्टि से साहित्य-जगत् में अराजकता की सृष्टि ही हो सकती है और कवि-कृतियां अप्रामाणिक सिद्ध हो जायेंगी।

यदि हम सूरसारावली को सूरसागर की भूमिका या अनुक्रमणिका मानें तो यह भी मानना पड़ेगा कि यह सूरसागर के पश्चात् लिखी गई होगी, जो हास्यास्पद ही प्रतीत होता है। वास्तविक बात तो यह है कि 'सूर-सारावली' सिद्धान्त रूप में लिखा हुआ पृथक् शैली मे एक पृथक्

ग्रन्थ है। सूरसागर की अनुक्रमणिका मानने का भ्रम 'एक लक्ष पद वन्द' वाले पद से भी हो जाता है। किन्तु 'एक लक्ष पद वन्द' से एक अथवा सवा लाख पदों की कल्पना भी निराधार ही प्रतीत होती है। श्री प्रभुदयाल मित्तल ने अपने 'अष्टछाप परिचय' में एक लक्ष का अर्थ एक लाख न करके एक लक्ष भगवान् अर्थात् लक्ष आश्रयस्वरूप श्रीकृष्ण किया है। मित्तल जी के इस तर्क से हम सहमत नहीं हैं, क्योंकि इस पद के पूर्वापर के सम्बन्ध से लक्ष शब्द संख्यावाचक ही प्रतीत होता है। अत एव हमारी समझ में इस पद का निर्वाह दो प्रकार से हो सकता है।

(१) 'लक्ष-पद-वन्द' में लक्ष शब्द तो संख्यावाचक ही है परन्तु वन्द शब्द प्रत्येक पंक्ति का सूचक है। इस प्रकार एक लाख पंक्तिया दस सहस्त्र पदों से भी कम में आ सकती हैं और ६७ वर्ष की अवस्था तक उन्होंने अवश्य इतने पदों की रचना कर ली होगी अथवा कवि की भावी पद-निर्माण योजना का भी यह सूचक हो सकता है।

(२) यह पद भी इस भ्रान्ति का कारण है कि सूरसारावली ग्रन्थ सूरसागर का साराश है। संभव है कि यह प्रक्षिप्त हो और बाद में ही किसी ने जोड दिया हो। सूरसारावली के विषय, वर्णन, शैली, भाव और कवि-छापों को देखकर निश्चय सा हो जाता है कि इसके रचयिता हमारे अष्टछापी कवि सूरदास ही हैं। कथा के वैषम्य, शैली की विभिन्नता और विषयान्तरता को देखकर अन्य कवि की कल्पना युक्तिसगत नहीं जान पडती। श्रीमद्भागवत में सृष्टिक्रम कई प्रकार से बताया गया है। स्थान-स्थान पर विषयान्तरता भी दृष्टिगोचर होती है। यों तो यदि हम सूरसागर के प्रामाणिक पदों को ही तर्क-पूर्ण आलोचना की कसौटी पर कसने लगें तो पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा-सुना जा सकता है। अत एव सूरसारावली को सूर-रचित मानना ही न्याय-सगत होगा। सूरदास के पदों की रचना का

क्रम तो उनके जीवन के अन्तिम क्षणों तक चलता रहा, सम्भव है कि ६७ वर्ष की अवस्था तक उन्होंने जितने पदों की रचना की हो उनके साररूप में सूरसारावली की रचना हुई हो। कुछ आलोचक सूरसागर के अन्त में युगल-उपासना के पदों को देखकर कहते हैं कि महाप्रभु वल्लभाचार्य ने युगलरूप की उपासना का विशेष प्रचार नहीं किया था, इसलिए यह ग्रन्थ सूरकृत नहीं हो सकता। किन्तु यह युक्ति भी असंगत है क्योंकि प्रथम तो यह कहना ही अयुक्त है कि वल्लभाचार्य जी युगलमूर्ति के उपासक नहीं थे। दूसरे, यदि इस युक्ति को स्वीकार भी कर लिया जाय तो सूरसारावली की रचना तो उनकी (आचार्य वल्लभ की) मृत्यु से लगभग १५ वर्ष पश्चात् हुई थी, जबकि पुष्टि सम्प्रदाय मे सेवा के मण्डान की पूर्ण प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी। इसलिए सूरसारावली की प्रामाणिकता में सन्देह के लिए कोई स्थान है ही नहीं। इसकी कोई हस्तलिखित प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है, परन्तु बा० राधाकृष्णदास ने सूरसागर के प्रारम्भ में उसको सबसे पहले छपवाया था। सारावली के दो पदों को काल-परिमाण-सूचक मान कर उसके आधार पर आधुनिक आलोचकों ने अपनी कल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं। वे दो पद ये हैं:—

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
शिव विधान तप करेउ बहुत विधि तऊ पार नहिं लीन्ह।

तथा

सरस सम्वतसर लीला गावै युगल चरण चित लावै।
गर्भ वास बन्दी खाने में 'सूर' बहुरि नहीं आवै।

वास्तव में इन पदों का अपना विशेष महत्त्व है। एक ओर तो ये सूर की जन्मतिथि के निश्चय करने में सहायक होते हैं और दूसरी ओर साम्प्रदायिक विवेचन की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। 'अष्ट-

छाप' की स्थापना गोस्वामी विट्ठलनाथ जी द्वारा सम्वत् १७०२ में हुई थी। इसी वर्ष गोस्वामी जी ने सम्प्रदाय की सेवाप्रणाली को व्यवस्थित एव विस्तृत रूप दिया था। श्री वल्लभाचार्य जी के ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी के निधन के उपरान्त विट्ठलनाथ जी ने व्रजयात्रा प्रारम्भ की और सम्वत् १६०२ में उन्होंने अष्टछाप की नींव डाली। वार्ता-साहित्य से ज्ञात होता है कि सूरदास जी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी को श्रीकृष्ण का ही स्वरूप मानते थे और उनके प्रति ऐसी ही निष्ठा भक्ति एव श्रद्धा रखते थे। अपने अन्त समय में 'भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो' वाले पद में सूर ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के प्रति अपनी परम भक्ति को प्रकट किया है। हो सकता है कि ६७ वर्ष की आयु सं० १६०२ में जो दर्शन वाली बात उन्होंने कही थी वह भी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के प्रति हो। इस बात की पुष्टि उनके सेवाफल वाले 'सेवा की यह अद्भुत रीति, श्री विट्ठलेश सों राखैं प्रीति' पद से भी हो जाती है।

सरस सम्वत्सर वाले पद से काल-निर्णायक किसी विशेष सम्वत्सर की कल्पना भी असंगत ही प्रतीत होती है। रसिकेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की नित्य-लीलाओ का बढे विस्तार के साथ सम्प्रदाय में समावेश हुआ और यह सब कार्य श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने ही किया था। सेवा का यह अद्भुत प्रकार सम्वत् १६०२ से सम्प्रदाय में प्रचलित हुआ और इसी सेवा-प्रणाली के आधार पर वर्षभर की लीलाओं को दृष्टिकोण में रखते हुए 'सरस सम्वत्सर' नामकरण किया गया। अतएव सरस सम्वत्सर का अभिप्राय वर्ष भर की लीलाओं से है। सम्वत् १६०२ के पूर्व इस प्रकार की कोई सेवा-प्रणाली प्रचलित नहीं थी। इस सेवा का क्रम जन्माष्टमी से प्रारम्भ होता ह, इसलिए सूर ने भी जन्माष्टमी से ही वर्णन प्रारम्भ किया है। सूरसारावली के वर्णन में वर्षोत्सव की सभी भावनाओं का क्रम लक्षित किया जा सकता है।

साहित्य-लहरी—

यह ग्रन्थ सूरदास जी के उन पदों का संग्रह है जिनको दृष्टिकूट कहा जाता है और जो रस, अलङ्कार और नायिका-भेद वाली रचना-शैली से सम्बन्ध है। इसमें ११८ पद हैं। पदसंख्या १०९ से ११८ में विशेष प्रकार के ऐतिहासिक संकेत हैं। इस ग्रन्थ की कोई प्राचीन हस्त-लिखित प्रति तो नहीं मिलती किन्तु नागरी प्रचारिणी सभा की रिपोर्ट में सूरदास जी के दृष्टिकूट 'सटीक' तथा 'सूरशतक' नाम की रचनाओं का उल्लेख है। इस ग्रन्थ की दो टीकाएँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं। नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से सरदार कवि की टीका दो भागों में प्रकाशित हो चुकी है, जिसके प्रथम भाग में ११८ तथा दूसरे में ६३ पद हैं। इस ग्रन्थ का नाम 'श्री सूरदास के दृष्टिकूट सटीक' है, और इसके अन्त में लिखा है 'इति श्रीसुकविसरदारकृता साहित्य-लहरी समाप्ता।' इस ग्रन्थ की दूसरी टीका 'खड्ग विलास' प्रेस बाँकीपुर से प्रकाशित हुई जिसके संग्रहकर्त्ता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा प्रकाशक बाबू रामदीनसिंह हैं। इन दोनों ही टीकाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सरदार कवि से पहले भी दृष्टिकूट पदों पर कोई टीका थी। सरदार कवि ने अपनी ओर से भी कुछ नवीन अर्थ किए तथा साथ ही साथ कुछ दृष्टिकूट पदों को भी बढ़ाया है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि 'साहित्य-लहरी' एक स्वतंत्र रचना है अथवा सूरसागर में आए हुए दृष्टिकूट पदों का संकलन मात्र। अब तक सूरसागर की जितनी प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमें साहित्य-लहरी के कुछ पदों को छोड़ कर अन्य सभी पद नहीं मिलते। हाँ इतनी बात अवश्य है कि सूरसागर मे इस प्रकार के कुछ पद अवश्य हैं जो साहित्य-लहरी की दृष्टिकूट पदो से विषय और शैली का साम्य रखते हैं। सुकवि सरदार की टीका से विदित होता है कि उन्होंने जिस टीका का आश्रय लिया था उसमें पदों की संख्या कुछ कम थी और वे 'सूर के दृष्टिकूट' पदों के नाम से प्रचलित थे। सूरदास जी की सूरशतक नाम की कृति में भी प्राय वे ही पद हैं जो साहित्य-लहरी में संगृहीत हैं। विद्या-विभाग

काँकरौली में 'सूरशतक' की एक प्रति मौजूद है, तथा नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में भी इसका उल्लेख हुआ है। काँकरौली विद्या-विभाग में सूरदास जी के दृष्टिकूट पदों की अन्य दो टीकाएँ हैं। इन सब बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदास जी ने दृष्टिकूट पदों की रचना स्वतंत्ररूप से ही की थी और सम्भवत. उनका संकलन उनके जीवन-काल में ही हो गया था, किन्तु इतना अवश्य है कि साहित्य-लहरी का जो रूप इस समय है, उसमें कुछ पद प्रक्षिप्त अवश्य हैं। इस ग्रन्थ के अधिकाश पदो में नायिकाभेद अलंकार अदि का विवेचन है। पहले १०४ पदों में तो उनके वर्ण्य-विषयों का भी उल्लेख है तथा आगे के पदों में कहीं स्पष्ट तथा कहीं अस्पष्ट रूप में काव्याङ्गों का विवेचन होते हुए भी भक्ति-भावना का परमोत्कर्ष लक्षित होता है। साहित्य-लहरी की प्रामाणि-कता भी सूर के आधुनिक आलोचकों का प्रमुख आलोच्य विषय रहा है और डा० ब्रजेश्वर वर्मा के अतिरिक्त सभी ने उसे सूरदास जी की प्रामाणिक रचना ठहराया है। साहित्य-लहरी के ११८वें पद की अप्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए युक्तियों का उद्धरण करना पुनरुक्ति अथवा पिष्टपेषण होगा। हाँ, पद-संख्या १०९ अवश्य ही विचारणीय है, जो इस प्रकार है—

> मुनि पुनि रसन के रस लेख।
> दसन गौरीनन्द का लिखि सुवल मवत् पेख।
> नन्द-नन्दन मास छै ते हीन तृतिया वार।
> नन्द-नन्दन जनम ते हैं वान सुख-आगार।
> तृतीय ऋक्ष सुकर्म जोग विचारि सूर प्रवीन।
> नन्द-नन्दन-दास-हित साहित्य-लहरी कीन॥

इस पद में साहित्य-लहरी के रचना-काल की ओर संकेत किया गया है। इसमें दो बातें विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं (१) काल-निर्देश (२)

नन्द-नन्दन-दास-हित। इन दोनो ही बातों के विषय में विद्वानों में मतभेद है। 'रसन' का अर्थ आचार्य मुन्शीराम शर्मा ने रसना के व्यापारो के आधार पर दो मान कर साहित्य-लहरी का रचना-काल संवत् १६२७ माना है किन्तु आचार्य शुक्ल ने 'पुनि' के स्थान 'सुनि' (शून्य) पाठ मानकर सम्वत् १६०७ निर्धारित किया है। कुछ आचार्यों ने रसन का अर्थ एक मान कर सम्वत् १६१७ की कल्पना की है। डा० व्रजेश्वर वर्मा ने एक और सख्या निकाल डाली है, मुनि=७ पुनि (पुन) मुनि=७ रसन के रस=६ दशन गौरी नन्दन को=१=१६७७।

हमारी सम्मति में इस में सम्वत् १६०७ का ही उल्लेख है क्योंकि 'सुनि' का हस्तलेख में 'पुनि' पढ़ा जाना असंभव नहीं, 'रसन के रस लेख' में तो भ्रान्ति का स्थान ही नहीं है। स्पष्ट ही लेखक को रसन के अर्थात् रसना के रस अभीष्ट है जो संख्या में छः होते हैं। यहां रसन शब्द का प्रयोग काव्य के ९ रसों की व्यावृत्ति के लिए ही किया गया है। 'नन्द-नन्दन-दास' के भी दो अर्थ किए गए हैं। नन्द-नन्दन-दास अर्थात् कृष्ण-दास तथा स्वयं नन्द दास। यहा नन्ददास अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है। कृष्णदास की कल्पना करने वालो में सामान्यत· कृष्णभक्त की कल्पना की। वार्ता-साहित्य के अनुसार जब नन्ददास जी वल्लभ सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुए तब सूरदास जी ने उन्हें नन्द-नन्दन-दास कहा था और वे सब से पहले सूरदास की संगति में छ. मास तक चन्द्र-सरोवर पर रहे थे, और यह घटना सम्वत् १६०७ के लगभग ठहरती है। नन्ददास जी ने स्वयं ही इस प्रकार के काव्याङ्गों की रचना की थी। वास्तव में हिन्दी-साहित्य में रीति काव्य-प्रवाह के मूल स्रोत को प्रवृत्त करने वाले सर्वप्रथम कवि यही हैं क्योंकि कृपाराम की हित-तरङ्गिणी का रचना-काल संदिग्ध है। सूर की रचना, साहित्य-लहरी के आधार पर, उनकी भक्तिभावना को शृंगार के कर्दम से लांछित और दूषित भी अनेक आलोचकों ने ठहराया है और सूरसागर से भी उन्मुक्त शृंगार के अनेक चित्र प्रस्तुत किए हैं।

परन्तु इस आधार पर भक्त-शिरोमणि महाकवि सूरदास की रचना में भौतिक वासना का आरोप उनके पवित्र हृदय में छिद्रान्वेषण की चेष्टा ही कहा जायगा क्योंकि अपनी पवित्र भावना के बल पर सासारिकता के धरातल से बहुत ऊँचे उठे हुए सूर ने अपने आराध्य-युगल की अनेक प्रणय-पूर्ण लीलाओं के मधुर गान का जो स्वर उठाया है उसमें सरसता है किन्तु कर्दम नहीं, विह्वलता है किन्तु वासना नहीं, सौन्दर्य-रस पान की आकुल पिपासा है किन्तु ऐंद्रियिक लोलुपता नहीं, वाष्प की तरलता है किन्तु दृढता के साथ, मुस्कान की मादकता है किन्तु चेतनता के साथ, अनुभूतियों की चपलता है किन्तु स्थिरता के साथ, कहाँ तक कहें कि लौकिकता है किन्तु अलौकिकता के साथ है। इस पद के सम्बन्ध में हम यह निष्कर्ष निकालते हैं —

१ यह पद सभवत सूर-रचित न हो किन्तु बाद में किसी ने उनके दृष्टिकूट पदों में जोड़ दिया हो। जो भी कुछ हो इतना तो अवश्य ही मानना पडेगा कि इस पद के पश्चात् आए हुए साहित्य-लहरी के पद बाद के जुडे हुए हैं। अन्य युक्ति-युक्त प्रमाणों के अभाव में हम इस पद को सूरकृत मानने के लोभ को सवरण नहीं कर सकते।

२. यह पद हो सकता है सूरदास जी का ही हो और उनकी साहित्य-लहरी की रचना ही, जैसा कि इस पद से स्पष्ट है, नन्ददास जी के लिए हो। ऐसी स्थिति में हमें यही मानना पडेगा कि इस रचना का उद्देश्य श्री नन्ददास जी की उद्दाम वासनाओं को श्रीकृष्ण के अर्पण कराना था।

३ एक तीसरी कल्पना यह भी की जा सकती है कि सूरदास जी के दृष्टिकूट पदों की व्याख्या साहित्य-लहरी के नाम से किसी विद्वान् ने की हो और अपने सकलन और व्याख्या का कालनिर्देश इस पद से किया हो क्योंकि सूरदास जी ने कहीं भी अपनी रचनाओं में काल-

निर्देश नहीं किया है, केवल सूर सारावली में ६७ वर्ष की आयु का अवश्य किया है। किन्तु इस कल्पना को स्वीकार करने पर इस पद द्वारा प्रतिपादित समय की व्याख्या का स्वरूप ही बदलना पड़ेगा।

सूरसागर—

सूरसागर सूरदास जी की महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक रचना है। बहुत संभव है कि सूर के जीवनकाल में ही उसका किसी न किसी प्रकार संकलन हो गया हो। गोकुलनाथ जी कृत सूरदास की वार्ता में तो इस बात का उल्लेख भी है कि सूर ने सहस्रावधि पदों की रचना की जिनका सागर सारे संसार में प्रसिद्ध हुआ। हरिराय जी ने अपने 'भावप्रकाश' में इसकी पुष्टि करते हुए बताया है कि इस ग्रन्थ में ज्ञान-वैराग्य के पृथक्-पृथक् भक्तिभेद, अनेक भगवद्-अवतार और उन सब की लीलाओं का वर्णन है। सूरदास जी की वार्ता प्रसंग ४ में यह भी उल्लेख है कि अकबर बादशाह ने सूरदास जी के पदों का संकलन कराया था। इस प्रकार वार्ता-साहित्य के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि सूरदास जी के कीर्तन-पदों का संग्रह उनके जीवन-काल में ही हो चुका था, परन्तु खेद है कि उनके समय की कोई प्रति अब उपलब्ध नहीं होती। सूरसागर की अनेक हस्त-लिखित और मुद्रित प्रतियाँ हमारे देखने में आई हैं, जिनका विस्तार से विवरण हमने अपनी पुस्तक 'सूर और उनका साहित्य' में दिया है। सूर-सागर की दो प्रकार की प्रतियाँ मिलती हैं। १. संग्रहात्मक और २. द्वादश स्कन्धात्मक। दोनों प्रकार की प्रतियो में पदक्रम का भेद है। मुद्रित प्रतियों के दो संस्करण--नवलकिशोर प्रेस लखनऊ तथा वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई—मिलते हैं। कलकत्ते से भी एक छोटा सा संग्रह 'सूर-संगीत-सार' नाम से प्रकाशित हुआ है। 'रागकल्पद्रुम' में भी जो तीन भागों में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था, ब्रज-भाषा के अनेक पद-रचयिताओं के पदों के साथ सूरदास जी के भी पद छपे हैं। नवलकिशोर प्रेस द्वारा

प्रतिपादित प्रतियाँ सब से पुरानी हैं और उसमें सूरसारावली भी दी हुई है। इस पुस्तक के दो भाग हैं।

१. 'नित्य-कीर्तन के पद', जिसमें भिन्न-भिन्न राग-रागनियों में प्रभु के कीर्तन पद हैं।

२. 'लीला के पद'—इस भाग में भगवान् कृष्ण की विभिन्न लीलाओं से सम्बन्धित पद हैं। कीर्तन के पदों में सूरदास के पदों के साथ-साथ अन्य अष्टछापी कवियो के पद भी मिले हुए हैं। काशी नागरी प्रचारिणी द्वारा प्रकाशित सूरसागर से पहले, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई द्वारा मुद्रित सूरसागर की द्वादशस्कन्धात्मक प्रति ही प्रामाणिक मानी जाती थी। इसके आरभ में सूरसारावली दी गई है और फिर सूरसागर प्रारम्भ होता है। लखनऊ वाली प्रति में विनय के पद, मथुरालीला तथा भ्रमरगीत से पहले आते हैं, तथा बम्बई वाली प्रति में सूरसारावली के पश्चात् और प्रथम स्कन्ध से पहले। इन संग्रहात्मक और द्वादश स्कन्धात्मक प्रतियों के अध्ययन के पश्चात् हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

१ संग्रहात्मक प्रतियाँ द्वादश स्कन्धात्मक प्रतियों की अपेक्षा १०० वर्ष पुरानी हैं अर्थात् उनका संग्रह १०० वर्ष पहले हो चुका था।

२ संग्रहात्मक प्रतियों का पाठ द्वादशस्कन्धात्मक प्रतियो की अपेक्षा अधिक शुद्ध है एव व्रज-भाषा व्याकरण सम्मत है।

३ संग्रहात्मक प्रतियों में पद-क्रम प्राय पुष्टि मार्गीय परम्परा पर अवलम्बित है।

४ द्वादशस्कन्धात्मक प्रतियों में भागवत के अनुसरण करने की बात नहीं दुहराई गई।

५ द्वादशस्कन्धात्मक प्रतियों में पाठ-भेद और क्रम-भेद दोनों मिलते हैं।

संग्रहात्मक प्रतियों में प्रारंभ उस पद से उल्टा है। जो सूरदास जी ने नन्दालय की लीला के रूप में महाप्रभु वल्लभाचार्य जी को सौंपा था।

'व्रज भयौ महरि कें पूत जब यह बात सुनी।'

सूरदास जी की वार्ता में लिखा है 'सो सुनि कै श्री आचार्य जी बहौत प्रसन्न भये और जाने, जो अब लीला को अभ्यास भयो। सो तब श्री आचार्य जी आप श्री मुख तें सूरदास सों आसा किये—जो सूर कछु नन्दालय की लीला गावो। तब सूरदास ने नन्द-महोत्सव कौ कीर्तन बरनन करिकै गायो सो पद 'व्रज भयौ'·····इत्यादि।

द्वादशस्कन्धात्मक प्रतियों में सब से प्रामाणिक प्रति नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित है जो दो भागों में प्रकाशित हुई है। यद्यपि इस प्रति में अनेक स्थानों पर पाठ अशुद्ध है, फिर भी काशी नागरी प्रचारिणी सभा का यह कार्य स्तुत्य है। इस प्रति में सूरसारावली नहीं है और विनय के पद पहले दिए गये हैं। २२३ पदों के पश्चात् 'भागवत प्रसंग' शीर्षक और फिर विनय के पद हैं। २५०वें पद से फिर प्रथम स्कन्ध शीर्षक चला है। दोनों भागों में १२ स्कन्ध हैं और फिर दो परिशिष्ट हैं। दोनों भागों में पदों की संख्या ४९३६ है और दोनों परिशिष्टों में २०३+२७०=४७३ पद हैं। इस प्रकार कुल पदों की संख्या ५४०९ है। सम्पादक की दृष्टि से परिशिष्ट वाले पद संदिग्ध हैं।

पुष्टि सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली के दो क्रम हैं। १. प्रातःकाल से शयन पर्यन्त की सेवा-विधि और २. वर्षोत्सव की सेवा-विधि। नित्य सेवा-विधि में वात्सल्य भक्ति की प्रधानता है और इस सेवा के आठ समय निश्चित किए गए हैं, यथा—मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, सन्ध्याकालीन आरती एवं शयन। वर्षोत्सव की सेवाविधि में श्रीकृष्ण की नित्य और अवतार-लीलाओं, उत्सव, लोक-व्यवहार और

वैदिक पर्वों के उत्सव तथा अन्य अवतारों की जयन्तियाँ सम्मिलित हैं। नित्य और वर्षोत्सव दोनों प्रकार की सेवा विधियो के तीन अंग मुख्य हैं, १ शृगार, २ भोग तथा ३. राज। सूर का अधिकाश काव्य नित्य और वर्षोत्सव के कीर्तनरूप में सूर आदि आठों सखा दोनों ही प्रकार की सेवा-विधियों के पद बनाया करते थे। इस प्रकार इन अष्टछाप के कवियो ने अगणित पद रचे और यह पद-रचना का क्रम उनमें जीवन पर्यन्त चलता रहा। अतएव यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इन महात्माओं ने कितने विशाल साहित्य का निर्माण किया होगा। साहित्य-निर्माण की यह गति-विधि केवल इन आठ कवियों तक ही सीमित नहीं थी बल्कि प्रत्येक कवि के साथ-साथ आठ-आठ झालरिया भी रहते थे जो टेक उठाने का काम भी करते थे, वे स्वय भी अच्छे कवि थे पर अपने पदों में अपने प्रधान गायक की ही छाप लगाया करते थे। स्वयं सूरदास के भी आठ झालरिए थे जो सूर के अंग कहलाते थे। उनके नाम इस प्रकार बताए जाते हैं—तानसेन अलीखाँ, जगन्नाथ कविराय, हरिनारायण, श्यामदास, मुरारिदास, मुकुन्ददास, जयभगवान् और कृष्णजीवन लच्छीराम। ऐसी परिस्थिति में सूर के पदों को निकालना दुस्तर कार्य है और यथारूप प्राप्त सामग्री पर ही हमें सन्तोष करना पड़ता है। वर्षोत्सव तथा नित्य कीर्तन के कई महत्त्वपूर्ण अंगों पर सूरदास जी के पद या तो मिलते ही नहीं या एक-आध की संख्या में मिलते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि सूरदास जी का बहुत सा साहित्य अन्धकार में विलीन है।

द्वादश स्कन्धात्मक प्रतियों का क्रम यद्यपि भागवत के अनुसार रखा गया है फिर भी दोनों ग्रन्थों की तुलना करने से पता चलता है कि इनमें महान् भेद है। अपने गवेषणात्मक प्रबन्ध 'श्रीमद्भागवत और सूरदास' में हमने इस बात पर विस्तार से विचार किया है। सग्रहात्मक प्रतियों के शीर्षक स्थूल रूप से इस प्रकार हैं—

भगवान् कृष्ण की बधाई और उनकी बाललीला, व्रज की अन्य लीलाएँ। मुरली, रासलीला, मथुरागमनलीला, विरद-पदावली, नृसिंह, वामन और राम की जयन्तियाँ एवं विनय के पद। लखनऊ वाली प्रति में विनय के पद मथुरागमन से पहले दिए हैं। नृसिंह जयन्ती सप्तम स्कन्ध मे, वामन जयन्ती अष्टम स्कन्ध में तथा राम जयन्ती नवम स्कन्ध में ही हैं और लीला के पद दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध में दिए हैं।

आजकल हिन्दी जगत् में द्वादशस्कन्धात्मक प्रति का ही विशेष प्रचार है। इसके विषयों का विशेष विवेचन हमने 'सूर- साहित्य के स्रोत' नामक-अध्याय में किया है।

चतुर्थ अध्याय

वैष्णव आचार्य और सूर-साहित्य के प्रेरक तत्त्व

दक्षिण में भक्ति का स्रोत—

ईसा की तीसरी शताब्दी से पूर्व शुङ्ग और सातवाहन वशीय राजाओं के आश्रम में ब्राह्मण-धर्म का पुनरुद्धार हुआ था किन्तु इनके पतन के पश्चात् विदेशियो के आक्रमणो के कारण राजनीतिक परिस्थितियाँ अव्यवस्थित हो उठीं। चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में जब गुप्तवंशीय राजाओं ने अपनी विजय पताका फहराई तो देश में सुख-शन्ति की स्थापना हुई। इस युग में बौद्ध एव जैन धर्मों का ह्रास हुआ और वैष्णव-धर्म का उत्थान हुआ। नवीं शताब्दी तक हिन्दू-धर्म की इतनी उन्नति हुई कि बौद्ध और जैन-धर्म पिछड़ गये।

हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत में अव्यवस्था उत्पन्न होने के कारण धर्म, कला और काव्य को फिर दक्षिण में आश्रय प्राप्त हुआ। पाण्ड्य, चोल, केरल, पल्लव, आन्ध्र और चालुक्य राजाओं ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रसार में पर्याप्त योग दिया। आन्ध्रवंशीय राजा हाल की 'सप्तशती' प्रसिद्ध साहित्यिक कृतियों में से है और उसके मन्त्री द्वारा रचित बृहत्कथा का महत्त्व भी कुछ कम नहीं है। धार्मिक दृष्टि से भी आठवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक सुधार का केन्द्र दक्षिण ही रहा। वैष्णव और शैव सभी भक्तों ने भक्ति पर बल दिया तथा आचार्यों न अपने-अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल के कारण दक्षिण की ओर बहने वाली धर्म की धारा अनुकूल वातावरण पाकर विस्तृत हो गई और फिर उत्तर की ओर उन्मुख हुई।

बात यह थी कि दक्षिण में अभी तक हिन्दुत्त्व का बोलबाला था। जैन और बौद्ध-धर्म निराश्रित हो चुके थे। दक्षिण के हिन्दू राजाओं का आश्रय पाकर वैदिक धर्म फिर पनपा और शैव तथा वैष्णव आचार्यों ने बौद्ध तथा जैन धर्म का कड़ा विरोध किया। सिद्धान्त रूप से तो सभी वैष्णव सम्प्रदायों ने अपना सम्बन्ध वेदों से लगाया और थोड़े बहुत अन्तर के साथ योगदर्शन की समान रूप से व्याख्या की परन्तु भक्ति का वह स्वरूप जो उत्तरी भारत में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायो में दीख पड़ा उसके मूल में इन्हीं वैष्णव और शैव भक्तों की भक्तिभावना थी। इनके गीतों में भावों और विचारों का तो कोई अन्तर नहीं, केवल शिव और विष्णु को पृथक्-पृथक् प्राधान्य दिया गया है। इन भक्तों के गीतों में हृदय की रागात्मिका वृत्ति से प्रेरित मानव मात्र के हृदय को स्पर्श करने वाले भाव थे जिनके प्रवाह में सारा समाज वह गया और बुद्ध तथा जैन धर्म के लिए साधारण जनता में कोई श्रद्धा न रह गई। इन भक्त सन्तों के गीत स्वाभाविक और स्वच्छन्द धारा के प्रतीक मात्र थे। हृदय-मुक्ति की उस चरमसीमा पर पहुँच कर जहाँ उपास्य और उपासक एक हो जाते हैं विश्वास संशय पर विजय पा लेता है; भावना बुद्धि के व्यापार को कुण्ठित कर देती है और हृदय की समस्त-वृत्तियों को आत्मसात् कर लेती है, इन भक्त कवियों ने प्रेम भक्ति के वे गीत गाये जिनकी मधुर धारा में तर्कशास्त्र-ज्ञान, अविश्वास आदि के भाव विलीन हो गये और समस्त प्रदेश रससिक्त हो गया। उनके मानस से निकले हुए इन निर्मल भाव-मौक्तिकों को अपने कण्ठ का आभरण बना कर श्रोतागण कृतकृत्य होने लगे और आनन्द का ऐसा पारावार उमड़ा जिसमें ऐहिक लालसाओं से समुद्भूत संताप संतोष की सुखद शीतलता में परिणत हो गया। परन्तु परवर्ती आचार्यों ने उन कोमल भावों में तर्क का पुट लगा कर तथा शास्त्रीय नियमों के साँचे में ढाल कर सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की और श्रुति-

स्मृतियों से उनका सम्बन्ध जोड़ कर अनेक सम्प्रदायों को जन्म दिः
सबसे पहले आचार्य शङ्कर हुए।

शंकराचार्य—

आचार्य शंकर ने वैदिक-धर्म के 'ज्ञान' और 'आचरण' दो पक्ष बत
पहले पक्ष में ब्रह्म का स्वरूप निर्णय कर उसका सम्बन्ध जीव और प्र
से लगाया और दूसरे पक्ष में स्मृति-ग्रन्थों में निरूपित आचार-व्यव
की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया। शकर ने 'अद्वैतवाद' के सिद्ध
का प्रचार किया और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के महावाक्य की प्रतिष्ठा क
उन्होंने ब्रह्म को निर्गुण और निर्विशेष माना। उनके अनुसार दृश्य
निषेध करके निषेध की सीमा में जो कुछ अनुच्छिष्ट और शिष्ट रहता
वही अखण्ड, चिन्मात्र, एकरस, अद्वितीय ब्रह्म है।

तर्कसम्मत और समयापेक्षित होते हुए भी शकर का मत पूर्ण
कहा जा सकता क्योंकि इसमें दोनों पक्षों के पूर्ण समन्वय का अभाव
उन्होंने एक ओर तो ब्रह्म की अद्वैतता को उस अमूर्त स्थिति तक पः
दिया कि सामान्य व्यक्ति उसकी प्रक्रिया से चौंधिया जाय और दूसरी
ससार के महत्त्व को स्वीकार करके भी उस की नि सारता और मिथ्य
का प्रतिपादन करके साधारण मानव-समाज की ओर से मानव को विमुख
दिया, फिर भी इसका समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा।

रामानुजाचार्य—

रामानुजाचार्य ने 'विशिष्टाद्वैतवाद' का सिद्धान्त चलाया। उन
शंकर के माया और मिथ्यात्ववाद दोनों का खण्डन किया और बताया
यद्यपि जीव, जगत् और ईश्वर ये तीनों तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं, तथापि
(चिद्) और जगत् (अचित्) ये दोनों एक ही ईश्वर के शरीर
इसलिये चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है। आचरण की दृष्टि से

मत में भक्ति का ही प्राधान्य रहा । इस में कर्म-निष्ठा को स्वतन्त्र
कर ज्ञाननिष्ठा का उत्पादक माना गया है । इस प्रकार रामानुजा
शंकर के 'अद्वैतज्ञान' के स्थान पर 'विशिष्टाद्वैत' और 'संन्यास' के
पर 'भक्ति' की प्रतिष्ठा की ।

मध्वाचार्य—

माया को किसी भी रूप में मिथ्या मान कर चलने वाले स
का खण्डन कर भगवद्भक्ति को ही सच्चा मोक्ष-साधन बताने वा
रामानुज सम्प्रदाय के पश्चात् एक तीसरा सम्प्रदाय निकला जिसे
सम्प्रदाय' कहते हैं । इसके प्रवर्त्तक मध्वाचार्य थे । इन्होने शंकर के
और 'रामानुज' के 'विशिष्टाद्वैत' के विरुद्ध अपना मत चलाया ।
अपने मत का आधार भागवत पुराण को बनाया है । उन्होंने ईश्व
और प्रकृति के पाँच-पाँच भेद माने हैं । ब्रह्म को उन्होंने असंख्य
आधार माना है । वह पूर्णतया स्वतन्त्र तथा जीवात्मा और प्रकृति
है । वह विभिन्न अवतार धारण करता है ।

निम्बार्काचार्य—

इन्होंने जिस मत का प्रचार किया उसे "द्वैताद्वैत" कहते हैं ।
भी ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति का अपने दृष्टिकोण से विवेचन किया है
प्रतीत होता है कि इन सिद्धान्तों का मूल आधार रामानुज के ही
हैं, क्योकि इन में शरणागति अर्थात् प्रपत्ति को विशेष महत्त्व दि
है । 'निम्बार्क' की साधनाभक्ति में 'रामानुजाचार्य' के सभी योग
हैं, अन्तर केवल इतना है कि रामानुजाचार्य ने तो भक्ति को उ
में विहित उपासना की कोटि में रखा है और उसके मौलिक रूप व
दिया है, जब कि निम्बार्क ने भक्ति की मूल भावना को सुरक्षित र
रामानुज ने अपनी भक्ति को नारायण, लक्ष्मी, भू और लीला
सीमित रखा किन्तु 'निम्बार्क' ने कृष्ण और सखियों द्वारा परिवेष्टि

को ही प्रधानता दी है । इस प्रकार उत्तरी भारत में राधाकृष्ण की भक्ति का शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादन निम्बार्क ने किया। बंगाल और व्रजभूमि में इसका विशेष प्रचार हुआ ।

विष्णुस्वामी सम्प्रदाय—

इनके सम्प्रदाय का नाम 'रुद्रसम्प्रदाय' भी है। इन्होंने 'शुद्धाद्वैत' के सिद्धान्त का प्रचार किया। वल्लभ-सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुसार वल्लभाचार्य 'विष्णुस्वामी' की ही परम्परा में थे और विष्णुस्वामी ने जिस भक्तिमार्ग का प्रचार किया था, उसमें मुक्ति की अपेक्षा भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है।

वल्लभाचार्य—

उत्तरी भारत में राधाकृष्ण की भक्ति का प्रचार करने वाले दो आचार्य हुए—वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु। वास्तव में भक्ति-आन्दोलन को इन्हीं दो आचार्यों से विशेष शक्ति प्राप्त हुई। वल्लभाचार्य जी का दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है और उनके मत का आचरण पक्ष 'पुष्टिमार्ग' के नाम से प्रख्यात है। इन्होंने अपनी भक्ति में प्रपत्ति को विशेष स्थान दिया। और गोपालकृष्ण की लीलाओं को अलौकिकता प्रदान की। लीला को उन्होंने बहुत ऊँचा स्थान दिया और बताया कि लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान् राधिका के साथ जिस लोक में विहार करते हैं वह विष्णु और नारायण के वैकुण्ठ से भी ऊँचा है और उसे 'गोलोक' कहते हैं।

चैतन्य सम्प्रदाय—

वल्लभाचार्य के भक्ति-मार्ग में राधा और कृष्ण के युगल रूप का इतना महत्त्व नहीं है जितना 'चैतन्य सम्प्रदाय' में। वल्लभाचार्य ने तो भक्ति के विधि-विधान और बाह्य रूप पर विशेष बल दिया है, जब कि

चैतन्य का भावपक्ष प्रबल रहा। धार्मिक रीति-रिवाजों और कर्मकाण्ड के आडम्बर के विरोध में उन्होंने हरि के प्रति प्रेम और विश्वास का उपदेश दिया। जाति-पाँति का इन्होंने भी खण्डन किया। यद्यपि महाप्रभु ने स्वयं अपने सम्प्रदाय को व्यवस्थित नहीं किया तथापि उनके शिष्यों ने उनके सम्प्रदाय का यथावत् प्रचार किया।

इस सम्प्रदाय के अनुसार कृष्ण ही परम तत्त्व हैं, जो अनन्त शक्ति से युक्त और अनादि हैं। उपासना-भेद से उसके अलग-अलग नाम हो गये हैं। उसकी शक्ति अचिन्त्य है। उसकी शक्ति का प्राकट्य होने पर उसे भगवान् कहते हैं अन्यथा वह ब्रह्म कहलाता है। जब उसकी कुछ शक्ति प्रकट और कुछ अप्रकट रहती है तब वह परमात्मा कहलाता है। इस परम तत्त्व का भगवत्स्वरूप ही भक्ति का आलम्बन है।

सूर के समसामयिक अन्य सम्प्रदाय :—

दक्षिण के आचार्यों के प्रभाव से राधाकृष्ण की भक्ति को आधार मान कर कुछ ऐसे सम्प्रदायों का भी जन्म हुआ जो केवल रागात्मिका भक्ति से प्रेरित होकर अपनी भावना का जनता में प्रचार कर रहे थे। इनमें से कुछ तो युगलरूप की उपासना को प्रधानता देते थे और कुछ केवल राधा की भक्ति-भावना से अनुप्राणित थे। बंगाल में तो शक्ति की उपासना का पहले से ही प्रचार था और 'सहजिया' सम्प्रदाय में शक्ति की उपासना रूप भी विकृत हो चला था। उपासना का यह विकृत रूप व्रजभूमि में भी प्रचलित हुआ।

इन सम्प्रदायो में हरिदासी सम्प्रदाय जिसे सखी सम्प्रदाय भी कहते हैं तथा राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। सखी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हरिदास जी और राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हितहरिवंश जी थे।

सखी सम्प्रदाय—

स्वामी हरिदास जी ने सखीभाव से राधाकृष्ण की युगल-उपासना का प्रचार किया। इस सम्प्रदाय की उल्लेखनीय बात यह है कि इस में भक्तिभावना पर ही विशेष बल दिया गया है। स्वामी हरिदास जी उच्च-कोटि के गायक थे, उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। ऐसे भावुक भक्त के लिए सिद्धान्तो का प्रतिपादन दुरूह कार्य था। सैद्धान्तिक रूप से यह मत निम्बार्क-मत के अन्तर्गत ही आता है।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय—

युगल-उपासना का दूसरा उल्लेखनीय सम्प्रदाय राधावल्लभीय सम्प्रदाय कहा जा सकता है। डा हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी-साहित्य' में इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के विषय में लिखा है —

'निगमागम से अगोचर, सच्चिदानन्द, घन-विग्रह श्री राधाकृष्ण नित्य-किशोर युगलरूप से 'श्री वृन्दावन में ऐसे प्रेम-क्रीडा किया करते हैं जो स्वकीया और परकीया भाव से असप्रज्ञात है, और यथासमय स्वेच्छा से ये युगल 'व्रजेन्द्रनन्दन' और 'श्री वृषभानुनन्दिनी' नाम से व्रज में प्रकट होकर अपनी रहस्यलीला से निज-रसिकजनों को आनन्द प्लावित किया करते हैं। तब श्रीकृष्ण जी विषय और राधिकासहित सब गोपियाँ आश्रय होती हैं। इसी श्रुति-गोचर व्रजलीला की उपासना तथा गान अन्य समस्त रसिकों ने किया है।'

इस सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति से प्रतीत होता है कि यह भक्ति-भावना अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की भक्ति-भावना से स्वतन्त्र है। इस सम्प्रदाय का अनन्य दासभाव, कुञ्ज-केलि, दम्पति खवासी अर्थात् दासी-पन, विधि-निषेध का त्याग तथा राधिका जी को इष्टदेवी के रूप में मानना विशेषताएँ हैं। श्रीकृष्ण इस सम्प्रदाय के इष्टदेव नहीं हैं, केवल राधिका

के संग के कारण उपास्य हैं। स्वयं उनके लिये राधा की सखियाँ और दासियाँ भी अनुनय-विनय के पात्र हैं।

वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों के समानान्तर ही शैव सम्प्रदायों की परम्परा भी दक्षिण में बराबर चल रही थी। इन शैव सम्प्रदायों में 'पाशुपत' सम्प्रदाय विशेष उल्लेखनीय है। लिङ्गायत, शाक्त और गाणपत्य सम्प्रदाय भी इसी भक्ति की देन हैं। बंगाल में 'सहजिया सम्प्रदाय' के नाम से वैष्णवों का एक अलग सम्प्रदाय चल पड़ा था जिस में बौद्धों की 'सहज-यान' शाखा की अनेक मान्यताएँ अपना ली गई थीं।

इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त उत्तरी भारत में बौद्धों, जैनों और नाथों की अनेक शाखाएँ थीं जो समयानुसार अपने स्वरूप में परिवर्तन करती हुई जनता में अपने मत का प्रचार कर रही थीं। इन साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों के प्रचारकों के अतिरिक्त देश में एक ऐसा वर्ग भी था जो मनुष्य की सामान्य भावभूमि के आधार पर जाति-पाँति के भेद-भाव से परे, साम्प्रदायिकता के आवरण को दूर फेंक कर एक ईश्वर की निष्ठा का प्रतिपादन कर रहा था। उत्तरी भारत में कबीर, नानक, दादू और दक्षिणी भारत के नामदेव, तुकाराम, एकनाथ आदि इसी परम्परा में आते हैं। इस प्रकार समूचे देश में भक्ति का आन्दोलन किसी न किसी रूप में प्रचलित था।

हमारे चरितनायक सूरदास इस भक्ति-आन्दोलन के अपार पारावार में डूबती-उतराती जन-साधारण की नौका के कर्णधार कहे जा सकते हैं, जिन्हों ने मत-मतान्तरों के झञ्झावात से डगमगाती हुई उस साधनातरणि को प्रेमभक्ति के पतवारों से व्रजलोक के सुरम्य तट पर लाकर खड़ा कर दिया। संसार के संकीर्ण वातावरण में तड़पते हुए मानव को उन्होंने उस उच्चभाव-भूमि पर लाकर बिठा दिया, जहाँ एक ओर तो वह ऐहिकता की कलुषित दुर्गन्ध से मुक्त हो कर ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट आदि से रहित उन्मुक्त वायु

में साँस ले सका और दूसरी ओर सासारिक सताप से तप्त मनुष्य की दशा आँसू बहाता हुआ हाथ बढ़ा कर उसे ऊपर उठने में सहारा दे सका। जनता की कुत्सित मनोवृत्तियों का परिष्कार कर उन्हें ब्रह्ममय कृष्ण की ओर उन्मुख करके 'सूर' ने लोक-कल्याण का बड़ा भारी कार्य किया।

भारतीय साहित्य में कृष्ण—

भागवत-धर्म में कृष्ण की महत्ता शताब्दियों से चली आ रही थी। वैदिक साहित्य में हमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि कृष्ण का महत्त्व शताब्दियों पहले स्वीकृत हो चुका था। ऋग्वेद में कृष्ण का ऋषिरूप में उल्लेख है। छान्दोग्य उपनिषद् में कृष्ण को 'घोर आङ्गिरस' ऋषि का शिष्य और देवकी पुत्र कहा गया है और कौशीतकी ब्राह्मण में भी इसी प्रकार का उल्लेख है। महाभारत-काल में भागवत-धर्म का पूर्ण उद्धार हुआ और उसे 'पञ्चरात्र' नाम मिला जिसमें श्रीकृष्ण की भक्ति सर्वोपरि बताई गई है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान के आधार पर कृष्ण का सम्बन्ध सात्वत, वासुदेव नारायण और विष्णु से स्थापित किया जा सकता है परन्तु महाभारत में कुछ स्थलों को छोड़कर कृष्ण को एक उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ, क्षत्रीय योद्धा के रूप में चित्रित किया गया है। श्रीमद्भगवतगीता में जो महाभारत का एक अंश माना जाता है, श्री कृष्ण का अवतारत्व स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। हिन्दी के कृष्ण भक्ति कालीन साहित्य में कृष्ण का रूप व्रज-विहारी लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण है जिसका लीलाधाम व्रज है और गोप-गोपियों से जिसका सीधा सम्बन्ध है। कृष्ण के इस रूप की देन पूर्णरूप से पौराणिक नहीं कही जा सकती। इस देन में पौराणिक स्रोतों के अतिरिक्त कुछ अन्य स्रोतों का भी योग रहा है। कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी मुख्य पुराण ये है—

१ पद्मपुराण, २ वायुपुराण, ३ वामनपुराण, ४ कूर्मपुराण, ५ ब्रह्मवैवर्त्त, ६ हरिवंशपुराण और श्रीमद्भागवतपुराण।

गोपालकृष्ण सम्बन्धी सब से अधिक कथाएँ हरिवंशपुराण में हैं। इस पुराण की रचना पाश्चात्य विद्वानों ने ईसा की पहली शताब्दी के लगभग मानी है। इस पुराण में आभीरो या अहीरों का भी विवरण है। अहीरों के इतिहास से आधुनिक विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि गोपालकृष्ण तथा बालकृष्ण वाली कथाओं का समावेश वासुदेव के साथ इन आभीरों द्वारा किया गया। हरिवंशपुराण के अतिरिक्त ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में भी कृष्ण के चरित का विस्तार से वर्णन हुआ है परन्तु इस पुराण की विशेषता राधा का वर्णन है। हिन्दी के कवियों ने बहुत कुछ सामग्री इसी पुराण से ली है। इस पुराण में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन हरिवंशपुराण की अपेक्षा अधिक शृङ्गारिक और विस्तृत है। पद्मपुराण में कृष्ण-चरित और कृष्ण की लीलाओं के साथ-साथ वृन्दावन, द्वारका, गोकुल, मथुरा आदि का बड़ा सुन्दर वर्णन हुआ है। सूरसागर के बहुत से वर्णन इस पुराण के वर्णनो से मिलते हैं। वायुपुराग में कृष्ण की गोप-लीलाओ और राधा की केलि का वर्णन नहीं हुआ है और जितने कृष्ण विषयक पुराण हैं उनमें, श्रीमद्भागवत' ही ऐसा पुराण है जिससे सारा ही मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन प्रभावित हुआ है और शङ्कराचार्य जी के अतिरिक्त आगे के सभी आचार्यों ने भागवत को मान्यता दी है। कृष्ण विषयक पुराणों के विषय और भाषा पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये पुराण विभिन्न कालो की रचना हैं और इनके संस्करण बराबर होते रहे हैं। आज भी हमें इनके कई-कई संस्करण उपलब्ध होते हैं। हो सकता है कि साम्प्रदायिक आचार्यों ने अपनी-अपनी परम्पराओं के अनुकूल इन पुराणों में घटावढ़ी कर ली हो।

सूर-साहित्य के स्रोत—

महाभारत से लेकर पौराणिक युग तक कृष्ण का जितना विवेचन हुआ है वह सब समन्वित रूप में 'श्रीमद्भागवत' में मिल जाता है। सूरदास जी

पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित थे और पुष्टि-सम्प्रदाय में 'श्रीमद्भागवत' को उपनिषद्-ब्रह्मसूत्र और गीता की कोटि में स्वीकार किया गया है। इस लिए सूरदास जी पर भागवत का प्रभाव स्वाभाविक ही था किन्तु उन्होंने अन्य पुराणों से भी कथाओं के सूत्र ग्रहण किये हैं। श्रीमद्भागवत और सूरसागर का तुलनात्मक विवेचन विस्तार से हमने अपनी पुस्तक 'सूर और उनका साहित्य' में और खोजप्रबन्ध 'श्रीमद्भागवत और सूरदास' में किया है। सूरसागर के द्वादशस्कन्धों तथा उनमें आई हुई भागवतानुसरण की उक्तियों के कारण हिन्दी-जगत् में यह भ्रान्ति चलती रही कि सूरसागर 'श्रीमद्भागवत' का अनुवाद है परन्तु यह बात किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं है। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं सूरसागर के दो संस्करण हमें उपलब्ध होते हैं—एक संग्रहात्मक और दूसरा द्वादशस्कन्धात्मक। संग्रहात्मक संस्करण की प्रतिमा अपेक्षाकृत अधिक पुरानी है और उनका पाठ व्रजभाषा-व्याकरण से अधिक सम्मत है। उसकी कथाओं, लीलाओं और जीवनचर्या का क्रम भी सम्प्रदाय की परम्परा के अनुकूल है। उसमें कहीं भागवतानुसरण की बात नहीं कही गई है। हाँ, द्वादशस्कन्धात्मक सूरसागर से अवश्य यथाकथञ्चित् भागवत की तुलना की जा सकती है, किन्तु उसमें भी दशम स्कन्ध को छोड़ कर अन्य स्कन्धों में भागवतानुसरण की बात मात्र ही दुहराई गई है, अनुसरण नहीं किया गया है। उनमें तो केवल वे ही स्थल आये हैं जहाँ भगवान् के यश का वर्णन, हरि भक्ति की महिमा अथवा भक्त गुणगान है। भागवतानुसरण वाली बात वर्णनात्मक प्रसङ्गों तक ही सीमित है। पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानो की सूरसागर में पूर्ण उपेक्षा की गई है। भागवत के दार्शनिक पक्ष को भी सूरसागर में प्रश्रय नहीं मिला है। जिस स्थल पर सूरसागर में भागवत के वर्णन को ज्यों का त्यों अपनाने का प्रयास किया है वहाँ शिथिलता आ गई है और वर्णन में अस्वाभाविकता सी प्रतीत होती है। ऐसे प्रसङ्गों में कवि का मन रम नहीं सका है। ऐसा प्रतीत होता है कि

मानो कवि को कथाओं का भार ढोना पड़ रहा है। अनुवाद की बात तो दूर रही, कथाओं का सार भी पदों में नहीं आ पाया।

सूरसागर में चार प्रकार की हरि-लीलाओं का गान हुआ है :—

१ वे लीलाएँ जिनका आधार पूर्णतया श्रीमद्भागवत है। ऐसी लीलाएँ केवल दशम स्कन्ध में हैं परन्तु उनका क्रम भागवत से भिन्न है।

२. वे लीलाएँ जिन का सूत्र तो कवि को भागवत से ही प्राप्त हुआ है पर 'सागर' में कवि ने उनकी विस्तृत व्याख्या की है। उन प्रसङ्गों के वर्णन में सूर की दृष्टि भागवत पर नहीं जमती किन्तु भावना के विस्तृत प्राङ्गण में चौकड़ी भरती दीख पड़ती है। ऐसे स्थलो पर कवि भागवत के कथा-सूत्रों को केवल मोड़ ही नहीं देता बल्कि एक बाँध बाँध कर उसे स्वतः प्रवाहिणी कल्लोलिनी की ओर उन्मुख कर देता है। ऐसे स्थलों पर कवि की गाम्भीर्यपूर्ण तन्मयता एवं परिपक्व शैली के दर्शन होते हैं। ये रचनाएँ खण्डकाव्य की कोटि तक पहुँच जाती हैं।

३. सूरसागर में कुछ ऐसी लीलाएँ भी हैं जिन्हें हम पूर्णतया मौलिक, स्वतन्त्र और भागवत निरपेक्ष समझ सकते हैं, जैसे, राधाकृष्ण-मिलन, पनघट-प्रस्ताव और दानलीला आदि।

४. कृष्ण विषयक अन्य पुराणों से भी कई लीलाएँ सूरदास जी ने ली हैं।

बात यह है कि सूरदास जी ने अपने गुरु महाप्रभु वल्लभाचार्य जी से भागवत-तत्व सुना था और उसी से उन्हें नन्दालय की लीला का स्फुरण हुआ। भागवत के अतिरिक्त सम्प्रदाय की बैठकों में अन्य पुराणों की भी चर्चा हुआ करती थी। उसी श्रुति के आधार पर सूरदास जी ने अपने

साहित्य की सर्जना की है। इस का तो कोई प्रमाण नहीं मिलता कि उन्होंने किसी भी पुराण का यथावत् अध्ययन किया होगा। उन्होंने तो हरि की लीलाओं का अनेक प्रकार से गान किया है। आधार के चक्कर में वे नहीं पड़े। वे तो एक सिद्ध कवि थे बिजली के तार की भाँति स्पर्शमात्र से ही उनकी प्रतिभा देदीप्यमान हो उठी थी। वे अपनी प्रतिभा, कवित्व-शक्ति और गुरुप्रसाद से नूतन सृष्टि-सर्जना में समर्थ थे। लीलाओं के स्फुरण का उल्लेख सूर के सम्बन्ध में 'वार्ता-साहित्य' में कई बार आया है। 'सूरदास की वार्ता' प्रसङ्ग १ में लिखा है:—

"पुरुषोत्तम-सहस्र-नाम सुनने के पश्चात् सम्पूर्ण भागवत की लीला सूरदास के हृदय में स्फुरी और सूरदास जी ने प्रथम स्कन्ध से द्वादश स्कन्ध पर्यन्त कीर्तन वर्णन किये।"

विषय की दृष्टि से सूर के सारे पदों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१ ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक—इस प्रकार के पदों का आधार भागवत के अतिरिक्त हरिवंशपुराण, विष्णुपुराण, पद्मपुराण, वायपुराण, देवी-भागवत आदि हैं। रामायण, महाभारत, पाञ्चरात्र-संहिताएँ भी इन कथाओं के स्रोत रूप में उपस्थित की जा सकती हैं।

२ लीलापरक इन पदों का आधार प्रधानतया श्रीमद्भागवत है। परन्तु पुष्टि-सम्प्रदाय में सारस्वतकल्प की लीला मानी जाती है जिसका वर्णन वामनपुराण में है इसलिये वामनपुराण भी उनका आधार माना जा सकता है। कुछ लीलाएँ ब्रह्मवैवर्त्तपुराण से ली गई हैं। राधा का विस्तृत वर्णन तो इसी पुराण में मिलता है। कुछ लीलाओं

की उद्भावना सूर ने स्वतन्त्र रूप से की है जो तत्कालीन प्रचलित सामाजिक प्रथाओं से सम्बन्ध रखती हैं।

३. भक्ति तथा दार्शनिक सिद्धान्त विषयक पद—सूर का लक्ष्य न तो भक्ति का विवेचन था और न दार्शनिक सिद्धान्तों का विश्लेषण। कवि तो भावुकता की अथाह धारा में बहता हुआ अनजाने ही कुछ ऐसी बातें कर जाता है जिनका सम्बन्ध वाद के लोग भक्ति-जगत् या दार्शनिक-जगत् से जोड़ लेते हैं। सूरसागर में भक्ति का मसाला पर्याप्त मात्रा में मिलता है जो भक्त के हृदय का ही उद्गार कहा जा सकता है, भक्ति का विवेचन नहीं।

सूर के पदों में हमें कई रूप स्पष्ट लक्षित होते हैं—

१. पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहला रूप।

२. दीक्षित होने से वाद का रूप।

३. सामयिक प्रभाव से प्रभावित रूप।

बात यह है कि सूर से पहले की पाँच-छः शताब्दियाँ धार्मिक-क्षेत्र में बड़ी उथल-पुथल की शताब्दियाँ थीं। सिद्धों और नाथों के नाना सम्प्रदाय कबीर आदि सन्तों के पंथ तथा अनेक वैष्णव सम्प्रदाय अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे। सूरदास यद्यपि एक विशेष सम्प्रदाय में दीक्षित थे तथापि सहृदय व्यक्ति होने के नाते वे अपने युग के धार्मिक आन्दोलन को तमाशबीन की तरह नहीं देख सकते थे। इसी लिए जहाँ सूर के साहित्य में सम्प्रदाय की परम्पराओं के अनुकूल वर्णन हुआ है वहाँ सामयिक परिस्थिति की ओर भी संकेत है। इसके अलावा एक बात यह भी है कि कवि निरंकुश होते हैं; उनकी कल्पना निःसीम आकाश में

निर्बन्ध उड़ानें भरती है। कवि बन्धन में बँध कर नहीं रह सकता, उसका मानसिक विकास उस स्थिति तक पहुँच जाता है जहाँ उसके लिये कोई वस्तु अगम्य, आबोध्य और अलक्ष्य नहीं रहती। सभी उच्चकोटि के कवियों में ये गुण पाये जाते हैं, फिर रससिद्ध कविशिरोमणि सूरदास का तो कहना ही क्या! उन्होंने कहीं शब्दों से खिलवाड़ की है तो कहीं वाणी का विस्मयकारक विलास दिखाया है और कहीं हृदयरत्नाकर के भावरत्नों को मनमौजी तौर से लुटाया है।

पञ्चम अध्याय

सूरदास के कृष्ण और गोपियाँ

सूर के कृष्ण—

सूरदास का सारा काव्य कृष्णमय है। यद्यपि सूरदास ने कृष्ण के सभी रूपों पर प्रकाश डाला है फिर भी नन्दनन्दन बाल-कृष्ण सूर-साहित्य में बेजोड़ हैं। यशोदोत्संग-लालित बालकृष्ण ग्वाल-बालों के सखारूप में अनेक प्रकार की लीलायें करते हैं, फिर वे ही रसिक शिरोमणि रतिनागर गोपियों के सर्वस्व बनते हैं और राधावल्लभ के रूप में व्रज में विहार करते हैं। मथुरा पहुँचने पर उनके निष्ठुर और नीरसरूप के दर्शन होते हैं। जहाँ तक श्रीकृष्ण के असुर-सँहारण भक्त-उद्धारण, अविनाशी, पूर्णब्रह्मरूप का प्रश्न है, सूर ने भागवत की भान्ति उन्हें परब्रह्म, पुरुषोत्तम, घट-घट के व्यापक, अन्तर्यामी, अज, अनन्त और अद्वैत माना है। उन्होंने अपने भगवान् को प्रायः हरि नाम से सम्बोधित किया है। पुष्टि सम्प्रदाय के अनुकूल उन्होंने परमानन्दस्वरूप ब्रह्म को वृन्दावन में नित्यलीला करने वाले के रूप में देखा है। सूरसागर में स्थान-स्थान पर हमें ऐसे संकेत मिलते हैं जहाँ सूर ने कृष्ण और ब्रह्म की एकता स्थापित की है, परन्तु सूर का मन उस प्रकार के विवेचन में अधिक नहीं रमा है। नन्दनन्दन गोपाल कृष्ण ही उनके इष्टदेव हैं और उसी के वर्णन में कवि की तल्लीनता और भावात्मकता के दर्शन होते हैं। विशेषकर विनय के पदों में जिन की रचना सूरदास जी ने सम्भवत सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व की थी, उन्होंने भगवान् के उस रूप को लिया है जो भक्त की दास्यभाव की वैराग्यपूर्ण भक्ति का आलम्बन है। इन पदों में भगवान् की भक्तवत्सलता तथा दयालुता एवं भक्त की आन्तरिक वेदना और निराश्रितता प्रकट

की गई है। दैन्य और दास्यभाव की दृष्टि से सूर के विनय के पद गोस्वामी तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' की तुलना के साथ रखे जा सकते हैं। विनय के पदों में भगवान् के उस रूप की ओर संकेत है जो आगे चलकर अनेक प्रकार की अलौकिक लीलायें करता है तथा जो असुरों और दुष्टों का संहारक, भक्तों और साधुओं का रक्षक है। इन पदों में सूर के हरि-विष्णु, राम और कृष्ण के पर्यायवाचक हैं।

सूर के कृष्ण-चरित्र में एक बात यह भी लक्ष्य करने की है कि भागवतकार की भान्ति भगवान् की लीलाओं का गान करते हुए सूर अपने इष्ट के अलौकिक रूप को नहीं भूलते। उनके अगम अगोचर लीलाधारी परमब्रह्मस्वरूप भगवान् व्रज में उस रस का प्रवाह करने आये हैं, जो ब्रह्मा आदि के लिये दुर्लभ है। कृष्ण की इस अलौकिकता का सूरदास जी बार-बार वर्णन करते हैं। जन्मोत्सव के विभिन्न अवसरों पर आनन्द बधाइयों के बीच भी सूर कृष्ण के इस अलौकिक रूप को नहीं भूले हैं। आगे चल कर वत्सहरण लीला के समय कालियदमन, गोवर्द्धन-धारण, दानलीला इत्यादि सभी अवसरों पर सूरदास जी भगवान् के इस रूप का ध्यान दिलाते हैं। परन्तु सूरदास जी का मुख्य उद्देश्य भागवतकार की भान्ति कृष्ण के चरित्र की अलौकिकता चित्रित करना नहीं है, उन्होंने तो कृष्ण के मानव-रूप को ही प्रधानता दी है। यही कारण है कि सूर के चित्रण में कृष्ण के अति-प्राकृत और लोकातीत तथा मानवीय रूप की दो धारायें समानान्तर रूप से बहती हुई चलती हैं। आगे चलकर मानवीय रूप की स्वाभाविकता के कारण अति प्राकृत स्वरूप की धारा दबी सी लगने लगती है। पूतना-वध से लेकर भौमासुर-वध तक कृष्ण की बाल-लीलाओं में जितने अलौकिक कृत्य हैं सभी में भगवान् के असुर-संहारक और भक्त-उद्धारक रूप के दर्शन होते हैं। इन स्थलों के चित्रण में भी सूर ने यह विशेषता रखी है कि दुस्तर से दुस्तर कार्य करने में भी समर्थ श्रीकृष्ण

सुकुमार और कोमल बने रहते हैं। कालिय-दमन-लीला के अवसर पर उरगनारी कृष्ण की कोमलता को देखकर अकुला उठती हैं और बार-बार कृष्ण को सम्बोधित कर कहती हैं "अरे तू किस का बालक है ? तू यहाँ से भाग जा। यदि वह जाग उठेगा तो तुझे भस्म कर देगा। इस प्रकार के भाव सूर ने प्रायः प्रत्येक असुर-संहार-लीला के अवसर पर प्रकट किये हैं। हमें कृष्ण का एक भी ऐसा चित्र नहीं मिलता जो कृष्ण की सुकुमारता तथा कोमलता का व्यंजक न हो।

सूरसागर में कृष्ण के बालरूप का जैसा चित्रण हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से नन्दनन्दन बालकृष्ण के वर्णन को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१. रूप सौन्दर्य-वर्णन, २. कृष्ण की क्रीड़ा और चेष्टाओं का वर्णन, ३. विभिन्न संस्कारों, उत्सवों और समारम्भों का वर्णन, ४. भगवान् का अलौकिक चरित्र।

ये चारों ही प्रकार के वर्णन सूर के पूर्ण हैं। श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों में भी यह वर्णन सूक्ष्मरूप से मिलते हैं परन्तु सूर ने अपनी कल्पना के योग से इन वर्णनों में विशेष स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिकता और भावात्मकता भर दी है। व्रज में प्रकट होते ही कृष्ण अपने अनुपम सौन्दर्य से सारे व्रज को आकृष्ट कर लेते हैं।

"व्रज भयो महर के पूत जब यह बात सुनी।
सुनि आनन्दे सब लोग गोकुल गनक गुनी॥"

कवि ने बालक के एक-एक कृत्य को लेकर बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। नेग लेने वालों का झगड़ना, नार-छेदन में विलम्ब, ग्राम के गोपों की चर्चा आदि सभी विषयों को सूर ने लिया है। कृष्ण का जन्मोत्सव तो और पुराणों में भी आया है, परन्तु सूर ने इस वर्णन में मनोवैज्ञानिकता

के साथ अपने समय की प्रचलित प्रथाओं का समावेश कर के उसे अधिक सजीव और प्रभावोत्पादक बना दिया है और अपनी प्रतिभा के बल से बड़े-बड़े सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं। पालने में झूलना, अँगूठा चूसना, लोरियों के साथ सोना और प्रभातियों के साथ जागना आदि शैशव सम्बन्धी प्रत्येक बात का कवि ने बड़े विस्तार और सूक्ष्म से सूक्ष्म ब्यौरे के साथ वर्णन किया है। सूर ने कृष्ण के शैशवकालीन स्वाभाविक क्रिया-कलापों की इतनी प्रचुरता कर दी है कि उन के अलौकिक और अति प्राकृत बाल-चरित्र को अविभूत नहीं कर सके हैं। अनेक संस्कारों तथा उनके जागने से लेकर सोने तक की अनेक क्रियाओं का वर्णन सूर ने बड़े विस्तार से किया है। प्रत्येक पद में नये भाव और नई व्यंजना है। सूर के इस स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चित्रण को देख कर पाठक संदेह में पड़ जाता है कि क्या कोई अन्धा व्यक्ति इस प्रकार के वर्णन कर सकता है। कृष्ण की संहार-लीलाओं में भी सूर ने विशेष सहृदयता का परिचय दिया है, क्योंकि सूर ने पूतना आदि की आपत्ति उपस्थित होने पर माता-पिता तथा ग्वाल-बालों की मानसिक विह्वलता का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। पूतना-वध के अनन्तर कवि कहता है—

"जसुमति विकल भई छिन कल ना।
लेहु उठाइ पूतना उर ते मेरो सुभग साँवरो ललना।"

यहाँ ललना शब्द में कितनी गहरी व्यजना है। ऐसे आपत्ति-काल में मातृ-हृदय में कल का क्या काम। सभी राक्षसों के वध के समय सूरदास जी ने सगे सम्बन्धियों की इसी प्रकार की आतुरता और विह्वलता का वर्णन किया है साम्प्रदायिक दृष्टि से भक्ति नामक भाव को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा कर भक्तिरस में परिणत करना ही इन स्थलों का उद्देश्य है। भारतीय भक्ति-परम्परा के अनुकूल भगवान् के दिव्य मंगल स्वरूप को तीन गुणों से विभूषित किया जाता है—अनन्त शक्ति, अनन्त सौन्दर्य

तथा अनन्त शील। सूरदास जी की वृत्ति अनन्त सौन्दर्य की ओर ही विशेष रमी है। भक्ति का आधार श्रद्धा है। श्रद्धा का पूर्वभाव आकर्षण है जिस का स्थैर्य सौन्दर्य पर अवलम्बित है। परन्तु सौन्दर्य में वाह्य और अन्त: दोनों का सामंजस्य होना चाहिये। यही सौन्दर्य सच्चे प्रेम को जन्म देता है जो भक्ति नामक भाव का स्तम्भ है। इसलिये यदि सौन्दर्य को भक्ति का प्रथम सोपान कहें तो अत्युक्ति न होगी। प्रेम नामक भाव सौन्दर्य से ही जागृत होता है और यदि वह सौन्दर्य आनंत्य विशिष्ट है तो प्रेम की सत्ता स्थिर हो जाती है। प्रेम नामक भाव में आत्म-समर्पण का भाव निहित है और सौन्दर्य में नव-नव भावोन्मेषशालिता। कृष्ण की सुन्दरता भी अद्वितीय है। कवि ने अनेक पदों में उनकी सुन्दरता का वर्णन किया है।

"सोभासिन्धु न अन्त रही री।

नन्दभवन भरि पूरि उमँगि चलि, व्रज की वीथिनि फिरति बही री।"

वास्तव में व्रज में शोभा का समुद्र उमड़ पड़ा जिस के एक-एक विन्दु का सौन्दर्य विचित्र है। कृष्ण की घुँघराली अलकें, दूध की दँतुलियाँ, काजर का डिठौना वड़े ही मनोहर हैं। उनके इस अनुपम सौन्दर्य पर समस्त व्रज-नारियाँ लट्टू हैं।

वच्चे के विकास के साथ-साथ माता-पिता के हृदय की कामना वल्लरी भी विकसित होती है। माता-पिता की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि बालक कब वड़ा हो। दूध के दांतों ने वच्चे के विकास की सूचना दे दी है। यशोदा मैया फूली नहीं समाती —

"सुत मुख देखि यशोदा फूली।

हर्षित देखि दूध की दतियाँ प्रेम मगन तन की सुधि भूली।"

इतनी बात का कदाचित् बालक पर असर न हो इस लिये उसकी सुन्दर प्रिय वस्तु के खराब हो जाने की आशंका का भी वह उपयोग करती है—

"जैहैं बिगरि दाँत यह आछे ताते कहि समझावति।"

परन्तु माया से ससार को भुलावे में डालने वाले ब्रह्मस्वरूप कृष्ण को क्या भुलावे में डाला जा सकता है। देखिये यशोदा की बातों को सुनकर क्या कर रहे हैं—

"सूर श्याम यह सुनि मुसिकाने अंचल मुखहि लुकावति।"

कृष्ण का मुसकरा कर यशोदा के आँचल में मुख छिपा लेना भी क्या भुलाया जा सकता है। हर्ष, स्नेह, गर्व आदि भावों के साथ बौद्धिक विकास का तथ्य भी कितने आकर्षक रूप से व्यञ्जित हुआ है। यह यशोदा और कृष्ण का नहीं, माँ और बच्चे का भावात्मक स्निग्ध चित्र है।

ग्वाल बालों के साथ खेलने के अनेक चित्र सूर ने उपस्थित किये हैं। बाल-स्वभाव जन्य धृष्टता, कौतुक प्रियता, चतुरता आदि सब गुण कृष्ण में हैं। इन सब गुणों का भी क्रमशः विकास हुआ है। माटी भक्षण प्रसंग में कृष्ण की जो 'लगराई' देखी गई थी वह माखन चोरी में पराकाष्ठा पर पहुँच गई। अब तक कृष्ण का सौन्दर्य ही गोप-गोपिकाओं को लुभाता रहा और अपनी चेष्टाओं के कारण वे माता-पिता के वात्सल्य के आलम्बन बने किन्तु आगे चलकर सूर ने कृष्ण की उन चेष्टाओं को भी लिया है जो गोपियों के प्रेम का आधार बनी। बाल सुलभ उपायों की कल्पना में सूर जितने चतुर हैं उनके आराध्य उतने ही उन उपायों की योजना में। कृष्ण की माखन चोरी सारी व्रज नारियों की चर्चा का विषय बन गई, उनके नाक में दम आ गया, कृष्ण उनके लिये समस्या बन

गये ऐसी समस्या जिसमें बौद्धिक विचारणा की आवश्यकता को श्रम नहीं करना पड़ता अपितु हृदय के उन्मुक्त होने का साधन प्राप्त होता है जिसके सुलझाने की अपेक्षा उलझाने का ही प्रयत्न किया जाता है और जो उत्तरोत्तर जटिल होती हुई भी हृदय में ऋजुता और हर्ष का संचार करती है। वे कृष्ण पर क्रोध करतीं हैं उन्हें माखन चोरी से विरत करने के लिये नहीं, अपितु प्रोत्साहन देने के लिये। अपना पीछा छुड़ाने के लिये नहीं, हृदय को प्रेम बंधन में बँधवाने के लिए। यशोदा के पास ऐसी ही बनावटी शिकायत भी गई जैसा गोपियों को क्रोध आता था, परन्तु यशोदा ५ वर्ष के साँवरे को कैसे दोषी स्वीकार करे? उसका तनक सा गोपाल चोरी कर सकता है? यह बात उसके गले ही नहीं उतर पाती। कृष्ण अपनी कला में पूरे हैं। जब कभी पकड़े भी जाते हैं तो—

मुख तनि चितै, बिहँसि हरि दीन्हों, रिस तब गई बुझाई।

फिर यह स्वाभाविक ही था—

"लियो स्याम उर लाइ ग्वालिनी सूरदास बलि जाई।"

कृष्ण की यही चतुराई चोरी को दबा देती है और चतुराई भी ऐसी है कि—

चोरी अधिक चतुरई सीखी जाइन कथा कही

यशोदा के विश्वास को दृढ़ करने के लिये वे कृष्ण चमत्कार पूर्ण कृत्य भी कर लेते हैं। गोपिका उन्हें चोरी के अपराध में सप्रमाण पकड़ कर यशोदा के पास लाई पर उल्टी गालियाँ खानी पड़ीं, क्योंकि कृष्ण बहुत देर से यशोदा के सम्मुख ही खेल रहे थे। इसी प्रकार जब कोई गोपी कृष्ण को पकड़ लाती है तो यशोदा के सामने आकर उसे पता चलता है कि वह कृष्ण के धोखे में किसी गोप कन्या को ही ले आई।

धीरे-धीरे कृष्ण के उत्पात इतने बढ जाते हैं कि यशोदा को विश्वास करना पडता है कृष्ण चोरी अवश्य करता है। वह उन्हें समझाती है, कभी डाँटती है और कभी बाँध कर साँटी की पहुनाई करने की धमकी भी देती हैं। बेटा घर का माखन छोड़ कर बाहर चोरी करता फिरे और माँ को खीझ न आये यह हो नहीं सकता। गोपियाँ भी कहाँ तक सह सकें। बात बढ़ती ही जाती है और यहाँ तक नौबत पहुँचती है कि गोपियाँ यशोदा पर भी व्यग्य करती हैं—

अपनो गाँऊ लेहु नन्दरानी।

बड़े बाप की बेटी पूतहि भली पढावति बानी।

गोपियों की यह उक्ति भी कितनी मर्मस्पर्शी है कि—

'यशोदा तू बडी कृपण है, परमात्मा का दिया हुआ दूध दही सब कुछ तेरे पास है, बुढ़ापे में तेरे एक बेटा हुआ है उससे तू दूध-दही छिपा कर रखती है।

यशोदा इन सब उलाहनों से तग आ गई और इधर कृष्ण अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए विभिन्न उपाय काम में लाते जाते हैं—दोने को पीठ के पीछे छिपा लेना तथा अपनी माता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये नई-नई कहानियाँ गढ़ लेना आदि नित्यप्रति की क्रिया हो गई और अन्त में किसी गोपी की शिकायत पर यशोदा ने कृष्ण को ऊखल से बाँध ही दिया और यशोदा कृष्ण को पीटने के लिए तुल ही गई तो गोपियों का बनावटी क्रोध काफूर हो जाता है और वे कृष्ण का पक्ष लेने लगती हैं। ऐसी स्थिति में यशोदा का चिढ़ जाना स्वाभाविक है। वह गोपियों की निष्ठुरता के लिए उन्हें खरी-खोटी सुनाती हैं और कृष्ण के प्रति उसका वात्सल्य सजग हो उठता है, वह कहती है—

कहन लगी अब वढ़ि-वढ़ि बात।
ढोटा मेरो तुमहि वँधायौ, तनकहि माखन खात।

'ढोटा' और 'तनकहि माखन' शब्द यहाँ यशोदा के मातृ-हृदय को खोल कर रख देते हैं। माखन तो क्या संसार का समस्त वैभव भी कल्याण कारिणी जननी अपने वात्सल्य पर वार सकती है। यशोदा वहुत खीझ गई हैं तभी तो कृष्ण के प्रति इतनी निष्ठुर बनी। कृष्ण ढीठ भी वहुत हो गए, दिन निकलते ही उलाहनें आने प्रारम्भ हो जाते हैं। जब वलराम कृष्ण को खुलवाने के लिए अनुनय विनय करते हैं तो यशोदा यही उत्तर देती है—

कहा करौं हरि वहुत खिझाई।
सहि न सकी, रिस भरि गई, वहुतै ढीठ कन्हाई।
मेरौ कह्यौ नेकु नहि मानत करत अपनी टेक।
भोर होत उरहन लै आवति, व्रज की वधू अनेक।

अन्त में कवि इस घटना में अलौकिकता का पुट देकर समाप्त करता है यशोदा की ममता उभर आती है, वह अपने आप को ही कोसने लगती है—

'वरै जेवरी जिन तुम वाँधे परें हाथ भहराइ।'

धीरे-धीरे कृष्ण गो-दोहन योग्य हो जाते हैं और ग्वालिनों से ही गो-दोहन क्रिया सीखते हैं। वाल-क्रीड़ाओं में ही कृष्ण के प्रति गोपियो का पूर्ण आकर्षण हो चुका है जिस का आभास कवि कृष्ण के ही भोले कथन में देता है—

मोहि कहत जुवती सव चोर

×　　×　　×　　×

वोलि लेति भीतर घर अपनैं, मुख चूमति भर लेति अँकोर।

माखन हेरि देति अपनैं कर, कछु कहि विधि सौं करति निहोर।
जहाँ मोहिं देखति तहँ टेरति, मैं नहिं जात दुहाई तोर।

और तभी माता यशोदा कृष्ण को गले से लगा कर कहती हैं—

'वै तरुनी कहँ बालक मोर'।

कृष्ण का यह बाल-चरित्र हर प्रकार से पूर्ण है। इस चित्रण की विशेषता यह है कि बालकृष्ण एक ओर तो रतिभाव के आलम्बन हैं और दूसरी ओर भक्तिभाव के। वात्सल्यभाव के चित्रण में कृष्ण एक साधारण बालक के रूप में ही हैं। इन दोनों प्रकार के भावों का सामञ्जस्य सूर ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। भक्तिभाव के आलम्बन, कृष्ण भक्तों के सर्वस्व अनन्त शील, शक्ति और सौन्दर्य के आगार हैं। प्राकृत और भौतिक रूप में यशोदा नन्द एव गोपियो के लिए जो वात्सल्य है वही भक्तों के लिए भक्ति-रस है। यही कारण है कि जब सूर कृष्ण के मनोमुग्धकारी सौन्दर्य, उनकी लीलाओं, चाञ्चल्य आदि का मनोवैज्ञानिक एवं अनुभूतिगम्य वर्णन करने लगते हैं तो भगवान् का वह दिव्य-मंगलमय स्वरूप उनके सामने उपस्थित हो जाता है जिस में तन्मय हो कर वे भक्ति के आवेश में कृष्ण के अलौकिक स्वरूप का वर्णन करने लगते हैं। इसे यदि हम वात्सल्य रस में अद्‌भुत रस का समावेश मानें तो अनुचित न होगा।

गोचारण के प्रसंग में भी सूर ने अनेक रम्य चित्र उपस्थित किए हैं। प्रातःकाल ही गोचारण के लिए जाना, माता का व्यग्रता-पूर्वक प्रतीक्षा करना और शाम को घर आने के बाद भी दूसरे दिन जाने की उत्सुकता के कारण सोना तक नहीं आदि ऐसी घटनाएँ हैं जो स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक एवं याथार्थ्य युक्त हैं। प्रथम दिन के गोचारण का अनुभव

करने पर नित्यप्रति गो चराने जाने की भूमिका कृष्ण इस प्रकार वाँधते हैं—

मैं अपनी सब गाइ चरै हौं।
प्रात होत बल के संग जैहों तेरे कहे न रैहो।
ग्वाल-बाल गाइनि के भीतर, नैंकहु डर नहिं लागत,
आज न सोवौं नन्द दुहाई रैनि रहौंगो जागत।

भला यह कैसे हो सकता है कि अन्य ग्वाल-बाल गाएँ चराएँ और कृष्ण घर पर बैठे रहें। यह स्वाभाविक है कि बच्चा उसी के साथ रहना चाहता है जो उससे सहानुभूति और स्नेह प्रदर्शित करता है। खिजाने और चिढ़ाने वालों के साथ जाना वह पसन्द नहीं करता, यही कारण है कि कृष्ण रैता, पैता, मना, मनसुका आदि गोप-बालकों के साथ न जा कर 'दाऊ' के साथ ही जाना पसंद करते हैं।

यद्यपि इन प्रसंगों में भी हमें यत्र-तत्र भगवान् के अलौकिक चरित्रों का चित्रण मिलता है परन्तु अधिकांश वर्णन इसी मानवीय धरातल पर स्वाभाविकता के साथ हुए हैं। वन में गोपों का परस्पर मिल कर भोजन करना, अलग-अलग वनों को बाँटना, बारी-बारी से गौओं को घेर कर लाना आदि घटनाएँ मानव-जीवन से ही सम्बद्ध हैं। इन प्रसंगों में कवि वात्सल्य रस के उन पियूप विन्दुओं का ढालना नहीं भूला है जो स्वाभाविक स्नेहवश उद्‌गार के रूप में माता-पिता के हृदय से निकलते हैं। जो ग्वाले छाक लाने के लिए घर जाते हैं उनसे यशोदा अपने 'कान्हा' की बात अवश्य पूछती और उत्सुकता से सुनती है। गोचारण-प्रसंग में ग्राम्य-जीवन के सरल, एवं सरस चित्र हैं, साधारण ग्वालों की दिन-चर्य्या का विवेचन है जिस में आडम्बर का लेश नहीं, ढोंग का निशान नहीं, और कृत्रिमता का नाम नहीं। मानव-जीवन एवं बाह्य-प्रकृति के तादात्म्य

का जैसा अनुभव इन प्रसंगो में हो सकता है। वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यह प्रसग सरल भारतीय जीवन का सुन्दर विश्लेषण करता है और उन्मुक्त प्रकृति के अचल से झाँकते हुए विराट् पुरुष की झाँकी का अवसर प्रदान करता है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में गोचारण, वन-गमन, आश्रम-स्थान आदि का वर्णन विशेप रूप से प्रतिष्ठित हुआ है और साहित्यिक आदर्श माना गया है, क्योंकि प्रकृति के अङ्क में क्रीडा करने वाले कलाकार ही उसके ससर्ग से उपलब्ध भाव सुमनों से कविता-कामिनी का समुचित शृगार कर सकते हैं। प्रकृति का अनन्त वैभव उनके मानस की सकीर्णता को दूर कर उन्हें असीम चिर-सत्ता के अस्तित्व का आभास देकर उन के हृदय को सासारिक बन्धनों से मुक्तकर काल और देश की परिधि से बाहर ले जाता है और विश्वकवि के आसन पर बिठा देता है। सूर का गोचारण उनके हृदय की विशालता, कोमलता, प्रकृति-प्रेम, सरलता और पवित्रता का परिचायक है। प्राचीन समय में दूसरे देशों के साहित्य में भी इस प्रकार के दृश्यों को प्रधानता मिली थी। इस गोचारण प्रसग से कृष्ण के 'गोपाल' नाम की सार्थकता में कोई संशय ही नहीं रहता।

कृष्ण कोरे गोप नहीं हैं, न अबोध बालकृष्ण ही। प्रकृति के मुक्त वातावरण में उनके अङ्गावयवों के विकास ने शरीर को और भी सुन्दर बना दिया। सिर पर मोर के पखों का मुकुट भाया और अधरों पर मुरली ने आसन जमाया। नटवर की सारी चेष्टाएँ उन्होंने अपना लीं। गोपियों के साथ उनका शिशुता से ही साहचर्य था। वे उन पर तभी से मुग्ध थीं, परिचय स्नेह में और स्नेह प्रेम में परिणत होता हुआ प्रणय पद की ओर अग्रसर होने लगा। सुन्दर रूप का मोहक प्रभाव और चपलता, चतुरता एव औदात्त्य से परिपूर्ण विनोद क्रीडाएँ ही गोपियों को कृष्ण के प्रति आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त थे। तिस पर उनकी चर-अचर मोहिनी मुरली ने तो

गज़ब ही कर दिया। उसकी स्वर लहरी ने उन्हें 'आरज-पथ' त्यागने के लिए विवश कर दिया। वे उन्हें कृष्ण के प्रेम-जंजाल में फंसा कर मुरली उनके लिए बवाले-जान ही साबित हुई। मुरली का उल्लेख कवि ने अनेक बार किया है। उसका प्रभाव व्यापक है, स्थावर-जंगम, पवन, यमुना-जल सब उससे प्रभावित हैं। व प्रकृति से ही भावुक, श्याम के साथ खेल कर किशोरावस्था को पार करने वाली ब्रज-बालाओं का तो कहना ही क्या, वे कृष्ण के हाथों बे-मोल बिक जाती हैं, तन्मय हो जाती हैं और उनके वन से आने की बाट जोहती रहती हैं।

कृष्ण की शृंगार चेष्टाओ को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है— १. राधा सम्बन्धी और २. गोपियो सम्बन्धी। गोपियों से सम्बद्ध को भी कवि ने स्वतंत्र-रूप से तथा गोपी-रूप से दो प्रकार से चित्रित किया है।

सूर की गोपियाँ—

गोपियों को सूर ने सामूहिक रूप से लिया है और उनके वर्णन में बड़े सुन्दर रूपक प्रस्तुत किए हैं। किन्तु किसी भी गोपी का अपना पृथक् व्यक्तित्व विकसित नहीं हो पाया है जिसके कारण गोपियो के सम्बन्ध में शृंगार रस का पूर्ण परिपाक सूरसागर में दीख नहीं पड़ता जैसा श्रीमद्भागवत मे है। सूरसागर में जो कुछ लीलाएँ, चीरहरण, पनघट-प्रसंग, दानलीला, रासलीला, जलक्रीडा सूर ने वर्णित की है उनमें गोपियों के सौन्दर्य का ही वर्णन है। रस-परिपाक की दृष्टि से गोपियाँ राधा के व्यक्तित्व से इतनी दब गई हैं कि उनकी सार्थकता ही राधा के प्रेम को आदर्श मानने में है। राधा की दशा को प्राप्त करना ही उनका चरमलक्ष्य है, उनमें तो केवल प्रेम का विकास ही दिखाना कवि का लक्ष्य है। गोपियाँ या तो भगवान् के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उनका विविध

प्रकार से उनका वर्णन करती हुई प्रतीत होती हैं अथवा भगवद्भक्ति के लिए प्रयत्नशील दीख पड़ती हैं। कहीं-कहीं उनकी स्त्री-स्वभाव-सुलभ वे उक्तियाँ हैं जो उनके चरित्र के विकास में तो किसी प्रकार से सहायता नहीं देती, हाँ, राधा और कृष्ण के नायिकात्व और नायकत्व का समर्थन अवश्य कर देती हैं। वे सब अवस्थाओं में कृष्ण की लीलाओं का साथ देती हैं। सूर ने गोपी शब्द का प्रयोग प्राय उन कुमारियों और नवोढ़ाओं के लिए किया है जो कृष्ण के प्रति प्रेमभाव रखती हैं। भावना की दृष्टि से वे सब समान हैं, अवस्था की दृष्टि से अवश्य कुछ भेद हो गया है। गोपियों के सरल, ग्रामीण स्वभाव का चित्रण सूर ने सर्वत्र किया है। 'बसत' और 'होली' के प्रसंगों में गोपियों की प्रगल्भता और चञ्चलता चरम सीमा पर पहुँच जाती है, परन्तु सूर के समस्त वर्णन राधा को ही लक्षित करके किए हुए प्रतीत होते हैं। खण्डिता प्रकरण में सूर ने कुछ गोपियों का नामोल्लेख अवश्य किया है किन्तु यह सभवत साम्प्रदायिक दृष्टि-कोण के कारण था। इन गोपियों में ललिता और चन्द्रावली मुख्य हैं। ये दोनों घनिष्ठ सखियाँ हैं और राधा-कृष्ण के सौन्दर्य एवं पारस्परिक प्रेम-चेष्टाओं के वर्णन में निपुण हैं। ललिता तो राधा की बहुत ही विश्वासपात्र है। उसने राधा और कृष्ण के बीच दूती का कार्य बड़ी सफलता के साथ किया है। दान-लीला के प्रसंग में इन दोनों का ही उल्लेख है। दोनों को सूर ने खण्डिता नायिका के रूप में दिखाया है, परन्तु दोनों ही राधा से ईर्ष्या नहीं करतीं। काम, वृन्दा, कुमुदा और प्रमुदा आदि कुछ अन्य गोपियों के भी नाम हैं।

जिस प्रकार सूर का संयोग-शृगार उत्कृष्ट कोटि का है उसी प्रकार वियोग भी। इस पक्ष में गोपियों की मनोदशा का बड़ा ही भावात्मक वर्णन सूर ने किया है। कृष्ण के वियोग में उनकी दशा तुषाराहत-कमलिनीवत् हो जाती है और वे कृष्ण की निठुरता पर रोती रहती हैं।

जब कृष्ण उद्धव को अपना सन्देश-वाहक बना कर भेजते हैं तो उनकी विरह-व्यथा और भी तीव्र हो उठती है। वे कृष्ण और उद्धव दोनों को ही उलाहना देती हैं। वियोग चित्रण में सूर ने उन सभी अन्तर्दशाओं की व्यञ्जना की है जो विरह में हो सकती हैं। जिस प्रकार संयोग में वात्सल्य-रस को उन्होंने स्थान दिया है उसी प्रकार वियोग-वर्णन का आरंभ भी वात्सल्य-रस के ही वियोग-पक्ष से किया है। नन्द-यशोदा की अनेक दुःखात्मक भाव तरंगों में सूर का पाठक ऐसा मग्न हो जाता है कि स्वयं तद्रूप हो उठता है। ग्वालों की दशा का भी बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन है। आगे चल कर गोपियों की वियोगजन्य स्थिति का धारा-प्रवाह वर्णन है। यह वियोग वर्णन दो रूपों में हुआ है—१. साधारणरूप में और २. भ्रमर-गीत के रूप में। साधारण रूप में तो गोपियो की उस साधारण दशा का चित्रण है जो विरह के कारण हो गई थी। प्रकृति के सारे पदार्थ उन्हें काटने के लिए दौड़ते हैं, कृष्ण की दिनचर्य्या उनके मन से नहीं निकलती। जिन स्थलों पर कृष्ण के साथ विहार किया था, अब वे दुःखप्रद प्रतीत होते हैं। गोपियों का वियोग सारी पृथ्वी पर व्याप्त है। सूर ने चन्द्र, चंद्रिका, मधुवन, बादल, यमुना आदि, विभिन्न प्राकृतिक पदार्थों का सुन्दर चित्रण संस्कृत साहित्य की पद्धति पर किया है, जिस में कवि की सहृदयता और वाग्विदग्धता का पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है। अपनी कल्पना के बल पर सूर ने बड़ी सुन्दर योजनाएँ की हैं।

सूर का भ्रमरगीत एक विरह-काव्य है, जिसमें विरह से उद्बुद्ध असंख्य भावों और अन्तर्दशाओ का समावेश है। स्वाभाविकता और सजीवता से ओत-प्रोत सूर का यह काव्य विरहिणी गोपियों के मानस का स्वच्छ प्रतिबिम्ब है जिस में भावनाओं की लहरियाँ और व्यापारों की सक्रियता का तारतम्य सर्वत्र परिलक्षित होता है। उन्माद की सीमा का स्पर्श करने वाली मनोदशा के प्रभाव से परिचालित हो कर कभी वे

'पी-पी' रटने वाले पपीहे को अपने समान ही प्रिय-वियोग-सन्तप्त जानकर आश्वासन देती हैं और कभी उसे वियोग-उद्दीपक समझ कर कोसती हैं। कभी प्राकृतिक वस्तुओं को अपने मनोभावों से ओत-प्रोत मान कर उनके साथ अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित करती हैं और कभी विपरीत व्यवहार देख कर उन्हें दोष देती हैं। उद्धव के द्वारा श्याम का सन्देश श्रवण करते ही उनका प्रेम-प्रवाहाप्लावित हृदय क्षुब्ध हो उठता है। प्रेम के हरे-भरे ससार का त्याग कर योग की विकट मरुभूमि में 'आनन्द' के पीछे दौड लगाना उनकी दृष्टि से बुद्धि का दिवालियापन है। वे उद्धव पर बरस पड़ती हैं और अपने व्यग्य-बाणों से उसके योग के गट्ठर को छिन्न-भिन्न करके उडा देती हैं। उन्होंने कृष्ण से प्रेम किया, उसे अपना हृदय दिया है, अब कैसे त्याग दें? रसपान कर कलिका की ओर से सर्वथा विमुख होने वाले मधुकर का व्यापार क्या प्रेम के सरस वसत में अङ्गारों की वर्षा करना नहीं है? इस व्यापार का उपदेश देने वाले उद्धव को 'मधुकर' नाम देकर गोपियाँ बरस पड़ती हैं और उद्धव की खूब खबर लेती हैं। अन्त में अपनी पराजय में भी गौरव का अनुभव करने वाले उद्धव को गोपियों के श्याम रग में नख से शिख तक डूबे हुए लौटते देख कर फिर एक बार मुस्करा देते हैं। भ्रमर-गीत में सूर की गोपियो का स्वरूप सरल, निश्छल और ग्रामीण है।

सूर की राधा—

राधा सूरसागर अथवा कृष्ण-चरित की प्रधान नायिका है। राधा से कृष्ण का परिचय उस समय होता है जब वे भौंरा-चकडोरी खेलने के लिए घर से बाहर निकले, अचानक ही समवयस्क बालिकाओं के साथ वह कृष्ण की निगाह में पड जाती है। विशाल नेत्र, मस्तक पर रोली का टीका, पीठ पर लटकती हुई वेणी, गोरे शरीर पर नीलवर्ण की फरिया और वस्त्र, यह थी राधा की सज्जा। श्याम की दृष्टि पड़ी, आँखों से

आखें मिलीं और ठगारी पड़ गई, कृष्ण मुग्ध हो गए, जैसे किसी ने जादू कर दिया हो। रसिक शिरोमणि कृष्ण ने भोली राधिका को बातों में ही भुला दिया और प्रतिदिन आकर मिलने का मार्ग दिखा दिया। यहाँ पर सूर ने गुप्त रीति की ओर संकेत किया है जिसका अर्थ पुरातन प्रीति किया गया है। परन्तु कुछ भी हो, कृष्ण ने राधिका को प्रेम का पाठ पढ़ा लिया और वह उनके विरह में व्याकुल रहने लगी। कृष्ण से मिलने के लिए अनेक बहाने वह भी बनाने लगी और उस नागर के साथ नागरी बन गई।

'सूर श्याम नागर नागरि सो करत प्रेम की घातें'।

नन्द बाबा की साथ-साथ खेलने की अनुमति मिलने पर तो उसका दिल और भी खुल गया और वह कृष्ण पर अधिकार भी जमाने लगी। इसके पश्चात् सूर ने श्याम-श्यामा की गुप्तलीला का वर्णन किया है। संभवत इस लीला का आधार ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण ही रहा हो। कृष्ण के साथ रति-विलास के पश्चात् जब राधा घर पर लौटी तो माता ने समझा कि शायद उसे 'दीठि' लग गई है। राधा ने कृष्ण नाग की कथा गढ़ कर मां को सान्त्वना दे दी और यह भी बता दिया कि 'नन्द' का बेटा श्याम झाड़-फूंक में बड़ा चतुर है। राधिका दो भाइयों में एक बहिन थी, माता-पिता का तो मानों हृदय ही थी, अतएव माता का बहक जाना स्वाभाविक ही था।

यशोदा के यहाँ आने-जाने का भी राधा ने बहाना बना लिया, सुन्दरी तो थी ही, यशोदा को बड़ी अच्छी लगी और सूर्य भगवान् से मनाने लगी कि श्याम और राधा की अच्छी जोट मिलेगी। अब राधा और कृष्ण एक दूसरे के प्रेम में फँसे हुए हैं, दोनों का हृदय एक दूसरे से लगा हुआ है, उल्टे-सीधे काम करते हैं। यशोदा भी उनके हाल को

देख कर राधा को उलाहना देती है, परन्तु राधा स्पष्ट कह देती है कि तू अपने पुत्र को क्यों नहीं रोकती, वही तो कहते हैं कि तुझे देखे विना मेरे प्राण नहीं रहते, मुझे तो उन पर दया आती है। इसलिए आती हूँ। इस प्रकार राधा के प्रेम को सूर ने पूर्णता तक पहुँचाया है। सूर के प्रेम वर्णन में शृङ्गार-रति को साहचर्य द्वारा पुष्ट करके दिखाया गया है, जैसा आचार्य शुक्ल ने कहा है—

"सूर का सयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम-संगीत में जीवन एक गहरी चलती धारा है जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य-माधुर्य के अतिरिक्त और कुछ दिखलाई नहीं पड़ता।"

सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूप लिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है। सूर ने प्रेम-व्यापार का आरम्भ हास-परिहास और छेड-छाड़ के साथ दिखाया है। वाल-क्रीडा के सखी सखा आगे चल कर यौवनकाल के सखी सखा हो जाते हैं। अपने शृंगार की प्रतिष्ठा में सूर ने जो वातावरण उपस्थित किया है, वह उद्दीपन कार्य करता है। उनका प्रेम आदर्श प्रेम है जिसको हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं, सहसा उठ खडे हुए तूफान या मानसिक विप्लव में नहीं, जिसमें अनेक प्रकार के प्रतिबन्धों और विघ्न-बाधाओं को पार करने की लम्बी चौड़ी गाथाएँ होती हैं। अलौकिकता का पुट होते हुए भी सूर ने इस प्रेम को जीवन से दूर ले जाकर चित्रित नहीं किया है। राधा और कृष्ण के अनेक प्रेम-प्रसग सूर ने उपस्थित किए हैं।

सूर ने राधा को कई रूपो में चित्रित किया है। पहला चित्रण तो राधा कृष्ण को वाल सखी-सखा के रूप में चित्रित किया है जिसका संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। राधा का दूसरा रूप परकीया भाव से चित्रित हुआ है, परकीया रूप से नहीं। इस भाव में राधा के प्रेम में गम्भीरता आ जाती है।

सूरदासने राधा-कृष्ण मिलन एवं राधा से गोपियों की चुटकियोंका अनेक प्रकार से चित्रण किया है। परकीया भाव में जितनी भी शृंगार की चेष्टाएँ हो सकती हैं और जितने भी गुप्तभावो और संकेतों की संभावना की जा सकती है उन सब का पूरा ब्योरा हमें राधा-कृष्ण मिलन में मिल जाता है। इस भाव में राधा श्याम के रंग में रंग गई और श्याम राधा के।

सूर की राधा का तीसरा रूप स्वकीया भाव का है। जब राधा मानवती और गौरवशालिनी रूप में चित्रित की गई है। सूर ने राधा को प्रेयसी और कृष्ण को प्रियतम का रूप दिया है और दम्पत्ति विहार का विशद वर्णन सूरसागर में किया है।

राधा का एक रूप सूर ने वसंत और झूले के प्रसंगों पर चित्रित किया है। दोनों ही अवसरों पर राधा-कृष्ण दम्पत्ति के रूप में हमारे सामने आते हैं—

"झूलत श्याम श्यामा संग।
निरख दम्पति-अंग शोभा लजत कोटि अनंग।"

वसन्तकालीन फाग-क्रीडा का सूर ने बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है और वहाँ भी राधा-कृष्ण को नव दम्पत्ति माना है। वसंतलीला व्रज के सुख का चरमोत्कर्ष है जहाँ सूर ने विधि मर्यादा का अतिक्रमण कर राधा की विनोदी प्रकृति का स्वच्छन्द और निर्वाध प्रतिपादन किया है।

राधा का अन्तिम चित्र 'वियोगिनी राधा' का है। इस रूप में राधा का दर्शन सूर ने बहुत ही कम कराया है। ऐसा ज्ञात होता है कि परमोच्च अवस्था पर पहुँची हुई राधा का कृष्ण-प्रेम अन्तर्मुख हो गया है। इस वियोग काल में सूर ने जब भी राधा को देखा तभी वह गम्भीर प्रेम की एक दयनीय मूर्ति के रूप में दीख पड़ी। कृष्ण के मथुरा-गमन अवसर पर

गोपियों की आतुरता के साथ-साथ नन्द और यशोदा की भी बड़ी व्याकुलता दिखलाई गई है, कृष्ण ने भी अपने माता-पिता को सान्त्वना दी है, परन्तु कवियों ने चित्रलिखी सी गोपियो के बीच में राधा को खोजने का प्रयत्न नहीं किया है। कृष्ण को मथुरा पहुँचा कर नन्द जब लौट कर आए उस समय के यशोदा और गोपियों के वियोग-विलाप का सूर ने बड़ा ही मर्मस्पर्शी विस्तृत एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। बहुत देर के पश्चात् कवि को राधा की भी याद आई और विरहिणी राधा सर्वप्रथम गम्भीर-सोच में मग्न, नीचा सिर किये हुए नख से हरि का चित्र बनाती हुई दिखाई गई है। पर क्या वियोगिनी राधा अपने प्रियतम का चित्र बना सकती है? बिना माधव के राधा की स्थिति विचित्र है। अब तक उसके अग-प्रत्यग सौन्दर्य के उपमान थे, अब उपमेय भी न रहे। वह किसी पथिक को अपना संदेश श्याम तक भेजने के लिए बुलाती है पर अपने विषय में एक शब्द भी न कह कर व्रज के दु खी गोपी, ग्वाल और गो सुतों का संदेश भेजती है। भला प्रियतम को वह कैसे दोषी कहे? जब कभी गोपियाँ कृष्ण के प्रम पर व्यग्य करती हुई उन्हें जाति-पाति-भिन्न परदेशी और विश्वासघाती बताती हैं, तो राधा कहती है कि इसमें हरि का कोई दोष नहीं है, शायद मेरे प्रेम में ही कुछ कसर है। वास्तव में गोपियों के विरह-वर्णन में भी राधा के विरह की अतिशयता ही व्यंजित होती है क्योंकि गोपियो को भी राधा के विषय में बड़ा सोच है। इस प्रकार राधा को सूर ने आदर्श प्रेमिका के रूप में चित्रित किया है।

भ्रमरगीत प्रसग में भी राधा के अत्यन्त मार्मिक चित्र कवि ने उपस्थित किए हैं। रसिक शिरोमणि कृष्ण ने भी न जाने क्या सोचकर राधा को कोई संदेश नहीं भेजा, केवल वृषभानु महर को ही सदेश देकर वे चुप हो गए हैं। उद्धव के रथ को आता देख कर जब सखियों ने राधा को बताया कि मथुरा की ओर से वैसा ही रथ आ रहा है जैसा अक्रूर का

था और कोई कृष्ण सदृश व्यक्ति आ रहा है तो व्रज की स्त्रियों को बड़ा आनन्द हुआ और वे रथ की ओर दौड़ीं, परन्तु राधा कपाट की ओट में बोली, "अच्छा किया जो हरि आगए।" फिर भी राधा का गम्भीर प्रेम उसके शरीर की अवस्था से झलक रहा था। गोपियों ने उद्धव को अपनी विरह-वेदना सुनाई, उद्धव के तर्कों का तर्क-पूर्ण समाधान किया और भगवान् के सगुण रूप में ही आसक्ति प्रकट की। पर इस लम्बे-चौड़े वार्तालाप में उद्धव को राधा की वाणी एक वार भी सुनाई न दी। उसे तो उन्होंने केवल 'माधव-माधव' ही रटते देखा। वास्तव में माधव-माधव रटती हुई वह स्वयं भी तद्रूप हो जाती थी। सम्पूर्ण वाद-विवाद में राधिका उद्धव के सम्मुख नहीं आई, गोपियों ने ही उसकी ओर से विरह-निवेदन किया और 'अति मलीन वृषभानु कुमारी' की दशा दिखाई। गोपियों के प्रति संदेश देते हुए उद्धव ने राधिका की ही विरहावस्था का सब से अधिक हृदय विदारक चित्र उपस्थित किया है—

चित दै सुनहु श्याम प्रवीन।
हरि तुम्हरे विरह राधा मैं जु देखी छीन।

जब कृष्ण मथुरा से भी द्वारिका चले गए तो राधा की दशा और भी दयनीय हो गई और जब कुरुक्षेत्र में कृष्ण ने नन्द-यशोदा, गोपी-ग्वालों को बुलाया तो राधा के अन्तिम दर्शन हुए। कृष्ण-आगमन की सूचना से राधा अधीर हो उठी और उसके नेत्रों में जल भर आया। कुरुक्षेत्र में रुक्मिणी ने कृष्ण से पूछा, हे हरि! तुम्हारी वृषभानु किशोरी कौन सी है? कृष्ण को पुरानी प्रीति की स्मृति आ गई और कण्ठ अवरुद्ध हो गया। राधा भी सामने ही थी उसकी चितवन को देखते ही रुक्मिणी को अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया और वे राधा से इस प्रकार मिली जैसे—

'बहुत दिनन ते बिछुरी एक बाप की बेटी।'

अन्त में कवि ने राधा-माधव का अन्तिम महामिलन कराया है—

"राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृङ्ग गति ह्वै जु गई।
माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव-रँग रई।
माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना करि सो कहि न गई।
विहँसि कह्यौ हम तुम नहि अन्तर, यहि कहि कै उन ब्रज-पठई।
सूरदास प्रभु राधा-माधव, ब्रज-विहार नित नई नई॥"

इस अन्तिम मिलन में भी कृष्ण ने हँस कर और यह कह कर कि "हम तुम में कोई अन्तर नहीं है" उन्होंने उस बेचारी को फिर विरहानल में दग्ध होने के लिए ब्रज भेज दिया। किन्तु प्रेम की एकान्त साधिका के मुख से एक भी शब्द नहीं निकला, उससे कुछ भी कहते न बना और वह हाथ मलती ही रह गई—

"करतु कछु नाहीं आजु बनी।
हरि आए हौं रही ठगी सी जैसे चित्र-धनी।"

इस प्रकार सूर के चित्रण में हमें सच्ची प्रेमिका का चित्रण मिल जाता है जो विरह की असह्य ज्वाला में जलती है, पर उफ् तक नहीं करती, जिसका त्याग हिमाद्रि से भी उच्च है, परन्तु नम्रता के कारण झुका हुआ, जिसकी कर्त्तव्य-भावना प्रस्तर से भी अधिक कठोर है और हृदय नवनीतवत् कोमल, जिसे माखन-प्रिय नवनीत-चोर कृष्ण ने हँसते-खेलते ही चुरा लिया।

राधा का चित्रण, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास ने भी किया है, परन्तु उनका प्रेम-वर्णन दूसरे ही प्रकार हुआ है। जयदेव राधाकृष्ण स्वरूप के उपासक थे, अतएव उन्होंने साहित्य के सुरम्य मन्दिर में युगल-किशोर-प्रतिमा की प्रतिष्ठा की। राधिका को उन्होंने स्वकीया रूप दिया अथवा परकीया यह तो उनके

ग्रन्थ से स्पष्ट आभासित नहीं होता, परन्तु इतना अवश्य है कि राधा के प्रेम की धारा गीत-गोविन्द में इतनी तीव्रता के साथ वही है जिसमें 'लोक-लाज', 'कुल-कानि' आदि के अवरोध विलीन हो गए।

चण्डीदास की राधा में प्रेम का आधिक्य है। उसका हृदय-सरोवर प्रेम-रस से लबालब है, उसमें भावुकता की पराकाष्ठा है, मान करने की भी क्षमता नहीं, कृष्ण का व्यापक स्वरूप उसकी आखों में समाया है। उसे हम प्रेम का अवतार कह सकते हैं। उनमें विलासिता की मात्रा उतनी अधिक नहीं, जितनी भक्ति-भावना की। कृष्ण को साम्य प्रकृति में देख कर वह व्याकुल हो जाती है। चण्डीदास की राधा और कृष्ण में अभेद है। कृष्ण के प्रेम के सामने संसार का अपवाद कुछ नहीं। उसमें आत्म-समर्पण की पूरी भावना है। कृष्ण भी राधा में उतने ही अनुरक्त हैं। राधा ही उनका सर्वस्व है। मान की कल्पना तो चण्डीदास की राधा में की ही नहीं जा सकती। यदि कभी वह मान का ढोंग रचती भी हे और कृष्ण आकर लौट जाते हैं तो वह पछताती हुई कहती है—

"आपन सिर हम आपन हाते काटेनू, काहे करिनू हेन मान।
श्याम सुनागर नटवर शेखर कहाँ सखि? करल पयान?"

कृष्ण के वियोग मे व्याकुल हो कर वह पृथ्वी पर गिर पड़ती है और कनकलता की भान्ति मुरझा जाती है।

विद्यापति की पदावली में भी परकीया राधा का चित्रण हुआ है। इसमें अधिकांश पद राधा कृष्ण की प्रेम-लीलाओ से सम्बद्ध हैं। 'चैतन्य महाप्रभु' विद्यापति के पदों को गाते-गाते इतने भाव विभोर हो जाते थे कि मूर्छित हो जाते थे। सहजिया सम्प्रदाय के भक्त तो विद्यापति को सात रसिक भक्तों में से एक मानते हैं।

डा० श्यामसुन्दरदास ने विद्यापति पर विष्णुस्वामी और निम्बार्क का प्रभाव बताया है। कुछ भी हो इतना तो सत्य है कि विद्यापति ने जयदेव के अनुकरण पर राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं को काव्य का विषय बनाया होगा क्योंकि जयदेव से पहले राधा को परकीया नायिका का रूप देकर गेय पदों की रचना किसी ने नहीं की। विद्यापति पण्डित थे और काव्य शास्त्र की सूक्ष्मताओं से भी अभिज्ञ थे, संस्कृत और प्राकृत की शृंगारिक पुस्तकों का उन्होने सूक्ष्म अध्ययन किया था। 'गाथा-सप्तशती' के शृंगारिक भाव विद्यापति में अनेक स्थलों पर प्रतिबिम्बित हुए हैं। उन्होंने राधा और कृष्ण को नायक और नायिका के रूप में चित्रित किया है, और शृंगार रस की अविरल धारा अपनी पदावली में बहाई है। संयोग और वियोग की सभी परिस्थितियों और उन परिस्थियों में प्रेम-विभोर युवक-युवतियों के सभी भावों का संश्लिष्ट वर्णन विद्यापति ने किया है। नायका के आन्तिरिक भावों के साथ बाह्य चेष्टाओं का इतना स्वाभाविक और सजीव वर्णन बहुत कम कवियों द्वारा हो पाया है। वियोग-वर्णन में कवि की वृत्ति रमती हुई प्रतीत नहीं होती और उन्होंने अधिकतर परम्पराओं का ही अवलम्बन किया है। विद्यापति अन्तर्जगत् के सौंदर्य की अपेक्षा बाह्य जगत् के सौंदर्य से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं और उसीका वर्णन उन्होंने जी खोलकर किया भी है। उनकी राधा में हाव और अनुभावों की ही प्राधानता रही है। विद्यापति के पदों में जयदेव की अपेक्षा अधिक सरसता है और सूरदास की अपेक्षा अधिक मधुरता है। वह सूर की राधा की भांति प्रेम-चेष्टाओं के गोपन में निष्णात नहीं, पर वह है पूरी विलासमयी और कलामयी किशोरी, जिसमें आन्तरिक सौन्दर्य का विलास और बाह्य सौन्दर्य का चरम-विकास हुआ है। कृष्ण इस विद्युत् रेखा से चमत्कृत हो जाते हैं और उसी को बार-बार देखने के लिए उनके नेत्र भटकने लगते हैं। संयोग के अनेक चित्रों को चित्रित कर कवि विप्रलम्भ का चित्रण करता है, जिसमें विरहिणी राधा अपना अस्तित्व

भूलकर कृष्ण का ध्यान करती हुई तन्मय हो जाती है। राधा और कृष्ण का विरह समान है, बेचारी राधा को चैन नहीं, राधा रहने पर कृष्ण का और कृष्णस्वरूप होने पर राधा का विरह उसे सहना पड़ता ही है—

"अनुखन माधव-माधव सुमिरत सुन्दरि भेल मधाई।
× × × ×
राधा सयँ जब पुनताई माधव सयँ जब राधा।
दासन प्रेम तब हि नहि टूटत बाढ़त विरहक बाधा।
दुहु दिसि दारु दहन जैस दगधइ आकुल कीट परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कवि विद्यापति भान॥"

इस तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूर की राधा में विद्यापति, जयदेव, चण्डीदास और ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण की राधा की विशेषताएँ संहित हो गई हैं और उन सब के ऊपर स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता के स्वर्णिम वर्ण से सूर ने अपनी राधा को ऐसा रूप दिया कि उनसे पहले के राधा के सभी चित्र फीके पड़ गए। उन्होंने कैशोर्य की संमत चपलता, और यौवन के उद्दाम सागर में डूबती हुई राधा का ही चित्रण नहीं किया अपितु अपने भोलेपन से सब के मन को हरने वाली और सहज निर्बाध तरलता से श्याम को आकृष्ट करने वाली बालिका राधा का भी चित्रण किया है। यह सूर की अपनी देन है, निजी मौलिकता है। उनकी राधा में परकीया की तीव्र वेदना चाहे न हो परन्तु स्वकीया की गम्भीर और स्वाभाविक उत्कण्ठा अवश्य है। विवाह होने से पूर्व का राधा का अनुराग पूर्वानुराग कहा जा सकता है।

—•o•—

षष्ठ अध्याय

सूर की भक्ति-भावना

सूर की भक्ति का सामान्य विवेचन—

स्पष्ट रूप से सूरदास जी ने पुष्टि सम्प्रदाय के अतिरिक्त और किसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विवेचन नहीं किया है और न ही अपने समय की परिस्थितियों का वर्णन किया है, परन्तु कवि तमाशबीन की तरह उन परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं कर सकता। धार्मिक परिस्थितियों के साथ ही साथ सामाजिक परिस्थितियों का भी परिचय हमें सूरकाव्य में मिल जाता है। सूर के समकालीन गोस्वामी तुलसीदास जी की सभी रचनाओं में किसी न किसी रूप में सामाजिक प्रतिच्छाया मौजूद है। कबीर की अटपटी, अक्खड़ सधुक्कड़ी भाषा में समाज की पोल खोल कर उस पर व्यङ्ग्य वाणों की जो वर्षा की गई है उससे भी तत्कालीन समाज का नक्शा ज्यों का त्यों सामने आ जाता है। ढोंग और आडम्बर के सर्वभक्षी राक्षस मानवता और सदाचार को निगल रहे थे। व्रत, पूजा, तीर्थादि की प्रतिष्ठा होते हुए भी पवित्र धर्मबुद्धि का अभाव ही दीख पड़ता था। धर्म के नाम पर प्रच्छन्न कलुषता का आचरण ज़ोर-शोर से जारी था। नाथपंथी साधुओं का ढकोसला भी कुछ कम न था, मन्दिर व्यभिचार के अड्डे बन रहे थे। इन सब बातों का प्रभाव सूर के साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक ही था। उनकी भक्ति-साधना में तत्कालीन परिस्थितियों का बहुत सीमा तक योग है।

सूर की भक्ति-साधना और तत्कालीन परिस्थितियों के सम्बन्ध में एक बात यह भी विचारणीय है कि जहाँ सूर ने एक ओर इन परिस्थितियों

के प्रति विरक्ति प्रदर्शित कर व्रत, पूजा उपवास आदि से स्पष्ट विरोध नहीं तो उदासीनता तो प्रकट की ही है, वहाँ दूसरी ओर उन मानवीय दुर्बलताओं से समझौता भी किया है, जिनका शिकार उस समय का समाज हो रहा था। सूर के काव्य में कृष्ण-चरित्र के विलासमय चित्र और श्रृङ्गार रस की मादकता का जैसा संचार हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। हम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस मत से बिल्कुल सहमत हैं कि—"सूरदास ने मनुष्य की इस विफलता का कारण भजन का अभाव बतलाया है। अगर भजन हो तो यह सारी विफलता महती सफलता के रूप में परिवर्तित हो जाय। सूरदास ने वस्तुतः अपने काल की सारी विलासिता का सुन्दर उपयोग किया है और कोई भी सहृदय इस बात को अस्वीकार नहीं करेगा कि सचमुच उन्होंने भजन के पारस पत्थर से स्पर्श करा के विलासिता रूपी कुधातु को भी सोना बना दिया है। उस युग के मनुष्य की विफलता की प्रथम सीढ़ी है "आलिंगन, चुम्बन, परिरम्भन, नखछत, चारु परस्पर हाँसी" और सूर से अधिक और किस कवि ने इनका सफल वर्णन किया है[1] ?

वस्तुत पुष्टिमार्गीय सेवा का यही महत्त्व है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने तत्कालीन समस्त विलास-सामग्री अपने आराध्यदेव को समर्पित कर भक्त के मन से विलासिता को दूर करने का उपाय निकाला। सूर-साहित्य मे उन्मुक्त विलास का समावेश होने पर भी उन्हें मर्यादा-विमुख नहीं समझना चाहिये। वे स्मार्तपंथ के भी विरोधी नहीं थे और टीकाकारों के साथ उन्होंने मर्यादामार्ग को भी महत्त्व दिया है तथा वैधी भक्ति का विवेचन भी उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर हो जाता है। भागवत में भक्ति को सर्वोपरि माना है, परन्तु ज्ञान और कर्म को भी अपनाया है। पराभक्ति या प्रेमरूपा भक्ति को महत्त्व देते हुए वैधी भक्ति को उसकी

१. 'सूर-साहित्य' पृष्ठ ७२।

प्राप्ति का साधन माना है। सूरदास जी ने भागवतकार की भाँति भक्ति को तो महत्त्व दिया है, परन्तु ज्ञान और कर्म की प्रतिष्ठा नहीं की।

सूर के मत से इस प्रपञ्चात्मक संसार से छूटने का एकमात्र उपाय हरि-भक्ति है, जिसके विना समस्त जीवन ही भारस्वरूप है। भक्तिरहित जीवन अधार्मिक जीवन है। कलियुग के संतापकारी तापत्रय का शमन भक्त के कोमल हृदय से बहते हुए भगवद्भक्तिरस के शीतल स्रोत से ही सम्भव है, जो केवल भौतिक सघर्षजन्य क्लान्ति को ही नहीं हरता अपितु मानसिक पापपङ्क का प्रक्षालन कर हृदय को स्वच्छ भी करता है और उसे उच्च भावों के ठहरने योग्य बनाता है। कर्मकाण्ड के जाल की जटिल उलझन में फँसी हुई जनता धर्म के लुब्धक ठेकेदार पण्डित-पुजारियों की बगुला-भक्ति का शिकार बन रही थी। तीर्थ, व्रत, जप आदि का ढकोसला वास्तविकता पर आवरण डालकर धर्म के मूलभूत तत्त्वों का अपहरण कर रहा था। तुलसी की तरह सूर ने भी अपने चारों ओर के संसार को आँखें खोल कर देखा और उनकी बुराइयों की भरपेट निन्दा की। ऐहिक लालसा की मृगतृष्णा के पीछे भटकते हुए मानव-मन-कुरङ्ग को उन्होंने भगवद्भक्ति सरिता के सरस कूल पर लाकर छोड दिया। भौतिक विषयों के दुष्परिणामों का उद्‌घाटन और प्रभु-प्रेम का प्रतिपादन उन्होंने इस खूबी के साथ किया कि लोग अनायास ही हरि-लीला-गान में रत हो गये और भक्ति के बिना समस्त साधनों को बन्धन समझने लगे। ज्ञान और वैराग्य को भक्ति का साधक बना कर उन्होंने भक्त के पद की प्रतिष्ठा की और ज्ञान तथा योग द्वारा अगम्य तत्त्व को भी भक्ति के सरल मार्ग द्वारा गम्य बताया। भक्ति स्वत पूर्ण है, वह साधन नहीं, साध्य है। व्यापार नहीं, लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति सब कामनाओं की इतिश्री है। हरि

का भक्त स्वयं हरिस्वरूप हो जाता है, वह ब्रह्मा और महादेव से भी महान् है—

"हरि के जन सब ते अधिकारी।
ब्रह्मा, महादेव तें को बढ़, तिनकी सेवा कछु न सुधारी।"

जिस पर हरि की कृपा हो जाती है, उसे फिर किस बात की कमी? भक्ति का विशाल क्षेत्र जाति-पाँति की क्षुद्र परिधि से बाँधा नहीं जा सकता। बड़े-बड़े महाराज, ऋषिराज और मुनिराज भी हरिभक्त के समक्ष सिर झुका कर वन्दना करते हैं और उसके तेज से लज्जित होते हैं—

"हरि के जन की अति ठकुराई।
महाराज, ऋषिराज महामुनि देखत रहे लजाई।
निरभय देह राजगढ ताकौ, लोक-मनन उतसाहु।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह ये भये चोर तें साहु।
दृढ विस्वास कियौ सिंहासन, ता पर बैठे भूप।
हरि-जस विमल-छत्र सिर ऊपर राजत परम अनूप।
हरि-पद-पङ्कज पियौ प्रेम-रस, ताही में रङ्गरातौ।
मन्त्री ज्ञान न औसर पावै, कहत बात सकुचातौ।
अर्थ काम दोऊ रहे दुवारै, धर्म मोक्ष सिर नावै।
बुद्धि विवेक विचित्र पौरिया, समय न कबहूँ पावै।
अष्ट महासिधि द्वारै ठाडी, कर जोरे, उर लीन्हे।
छरीदार वैराग विनोदी, झिरकि बाहिरै कीन्हे।
माया काल कछू नहिं व्यापै, यह रस-रीति जो जानै।
'सूरदास' यह सकल समग्री, प्रभु प्रताप पहचानै॥"

भक्ति के बिना ज्ञान और कर्म व्यर्थ हैं, इस तथ्य को द्योतित करने के लिये सूरदास जी ने एक बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त उपस्थित किया है। उनका

कथन है कि जिस प्रकार पतङ्ग दीपक से प्रेम करता है, और उसी दीप्त शि
से भी न डरता हुआ उस पर गिर पड़ता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष
अपने ज्ञान रूपी दीपक से सासारिक दु खरूपी कूप को प्रकट देखता हुआ
उसमें गिर जाता है। जड जन्तु कालरूपी व्याल के रजस्तमोमय विषा
में क्यों जलता है ? सकल मतों के अविकल वाद-विवाद के कारण
धारण करता है और इस प्रकार सकल निशिदिन भ्रमण करता रहता
जिससे कुछ भी कार्य नहीं सरता। अगम सिन्धु के पार करने को
की नौका सजा कर उसमें कर्मों का भार भरता है, परन्तु सूर का व्रत
यही है कि मनुष्य कृष्ण-भक्ति द्वारा ही इस भवसागर को पार कर स
है[1]। विनय के सारे पद इसी प्रकार की भक्तिभावना से भरे पड़े हैं
मनुष्य का चोला बड़ी कठिनाई से मिलता है उसे योंही नहीं गँ
चाहिये। सूर ने अपने मत की पुष्टि में अनेक पापियों के उदाहरण
सिद्ध किया है कि भक्ति के लवलेश से ही समस्त पाप नष्ट हो जाते
अन्यथा जीव इस भवसागर में योंही भ्रमता रहता है। मन को चेत
देते हुए सूर ने अनेक पदों में भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की है[2]।

सूरदास के विनय-पद तुलसीदास जी की 'विनयपत्रिका' की
में रखे जा सकते हैं। दोनों ही कवियों का दैन्यभाव पराकाष्ठा की
तक पहुँच गया है और दोनों ने ही संसार की असारता दिखा कर
का महत्त्व प्रतिपादित किया है। मन को सबोधित कर मानव की
और शोचनीय दशा का चित्रण किया है, जिसका कारण स्वय मनुष्
सांसारिकता-प्रिय प्रवृत्ति है। सूरदास के पदों में तन्मयता और मार्मि
विशेषरूप से दृष्टिगोचर होती है। 'सन्त-मत' जिसका मुख्य आधार
पाँति का विरोध है, सूर को कई पक्षों में मान्य है। भक्ति के नाते

१ सूरसागर (ना प्र. स.) पद ५५।

२. वही, पद ६३–८८।

भक्त एक कोटि के हैं। संतों का "जाति-पाँति पूछै नहिं कोय। हरि को जपै सो हरि का होय।" वाला सिद्धान्त सूर की इस पंक्ति में स्पष्ट प्रतिबिम्बित है—

"जाति-पाँति कोउ पूछत नाहीं श्रीपति के दरबार[1]।"

भगवान् के भजन से नीच व्यक्ति भी उच्च पद प्राप्त कर लेता है—

है हरि-भजन को परमान,
नीच पावै ऊँच पदवी बाजते नीसान।

प्रभु के यहाँ ऊँच-नीच की गिनती नहीं की जाती। हिन्दू धर्म के बहुत से सम्प्रदायों में स्त्री को भक्ति का अधिकार नहीं दिया गया; सन्तों ने इस सिद्धान्त का विरोध किया और सूर ने उनका समर्थन किया है[2]। मनुष्य का सब पुरुषार्थ, सारे साधन, सकल उपाय, अखिल मन्त्र और उद्यमादि व्यर्थ हैं, केवल प्रभु की चाही बात होती है। अतः उसी की आराधना करनी चाहिए—

"करी गोपाल की सब होइ।
जो अपनौ पुरुषारथ मानत, अति झूठौ है सोइ।
साधन, मन्त्र, जन्त्र, उद्यम, बल ये सब डारौ धोइ।
जो कछु लिखि राखी नन्द-नन्दन, मेटि सकै नहि कोइ।
दुख-सुख, लाभ-अलाभ समुझि तुम कतहिं मरत हौ रोइ।
'सूरदास' स्वामी करुनामय स्यामचरन मन पोइ॥"

भगवद्भक्ति के बिना वनिता, सुत, हाथी-घोड़े आदि वैभव व्यर्थ हैं।

१. सूरसागर, पद २३१।

२. हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोइ,
नारि पुरुष हरि गनत न होइ। सू. सा. पद २४५।

इस विषय में तुलसीदास जी कहते हैं :—

झूमत द्वार मतङ्ग अनेक जँजीर जरे मद अम्बु चुचाते।
ताते तुरग मनोगति-चञ्चल, पौन के गौनहू तें बढ़ि जाते।
भीतर चन्द्रमुखी अवलोकति, बाहर भूप खरे न समाते।
ऐसे भये तो कहा 'तुलसी', जो पै जानकीनाथ के रंग न राते[1]।

यही बात सूरदास जी ने अपनी सत-वाणी में इस प्रकार कही है —

"इहि विधि कहा घटैगौ तेरौ।
नँद-नन्दन करि घर कौ ठाकुर, आपुन है रहु चेरौ।
कहा भयौ जो सम्पति बाढ़ी, कियौ बहुत घर घेरौ।
कहुँ हरि-कथा, कहूँ हरि-पूजन, कहुँ सन्तति कौ डेरौ।
जो वनिता सुरजूथ सकेले, हय गय विभव घनेरौ।
सबै समर्पौ 'सूर' स्याम कौ, यह साँचौ मत मेरौ[2]।

भगवान् की भक्तवत्सलता का भी सूर ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है। भागवत में भगवान् को भक्तों से तादात्म्य स्थापित करते हुए देखा गया है। सूर के भगवान् भी कहते हैं कि 'हम भक्तों के हैं और भक्त हमारे हैं' भक्तों के लिए ही हमें पैदल भी दौड़ना पड़ता है, भक्तों के शत्रु हमारे शत्रु हैं, उनकी जीत हमारी जीत और उनकी हार हमारी हार है[3]। सारे प्रथम स्कन्ध में सूर ने हरि-भक्ति-महिमा का ही गान किया है, अन्य प्रसङ्ग तो मानो भक्ति की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। द्वितीय स्कन्ध का प्रारम्भ भी उन्होंने भजन के महत्त्व

१ कवितावली उत्तर काण्ड पद ४४।

२ सूरसागर पद २६६।

३ 'सूरसागर' पद २७२।

से किया है। वे कहते हैं कि हरि की भक्ति युग-युग में वृद्धि पाती है, अन्य धर्म तो चार दिन के हैं। सतयुग में सत्य, त्रेता मे तप, द्वापर में पूजाचार और कलियुग में 'लज्जा-कानि' त्याग कर केवल भजन करना चाहिए। कलियुग में केवल हरिनाम का ही आधार है और सब व्यवहार झूठे हैं। हरि-भक्ति के बिना सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं और न ही मुक्ति सम्भव है। विषयों के बन्धन हरि-भजन से ही कट सकते हैं[1]।

सूर का समकालीन समाज विषयासक्त और आचार-विचार-विरत था। सच्ची भक्ति के प्रचार के लिए विषय-विरक्ति अपेक्षित थी, इसलिए सूरदास ने साधारण भक्ति के विवेचन में स्थान-स्थान पर वैराग्य का महत्त्व प्रतिपादित किया है। विनय के पदों में जहाँ एक ओर हरि-भजन की आवश्यकता पर उन्होंने बल दिया है, वहाँ दूसरी ओर भक्त के विचारों में वैराग्य भी अनिवार्य बताया है, क्योंकि वैराग्यपूर्ण भक्ति से ही सांसारिकता का दूर होना सम्भव है और भक्त के हृदय में पूर्ण आत्म-समर्पण का भाव उदित हो सकता है। राजा 'परीक्षित' की कथा में भी इसी वैराग्यपूर्ण भक्ति की आवश्यकता बताई गई है। वास्तव में अनन्य भक्ति वैराग्य के बिना सम्भव ही नहीं है :—

"जौ लौं मनकामना न छूटै।
तौ कहा जोग जज्ञ व्रत कीन्है, बिनु कन तुस कौं कूटै।
कहा स्नान किये तीरथ के, अङ्ग भस्म जटजूटै।
कहा पुरान जु पढ़े अठारह, ऊर्ध्व धूम के घूँटै।
× × + ×
काम, क्रोध, मद, लोभ सत्रु हैं जो इतननि सौं छूटै।
सूरदास तब ही तम नासै, ज्ञान अगिनि झर फूटै[2]।

१. 'सूरसागर' पद ३४५–३५९।
२. 'सूरसागर' पद ३६२।

जो भक्तिमार्ग का अनुसरण करते हैं उन्हें स्त्री और पुत्र से अपना सम्बन्ध तोड़ना पड़ता है। असन-वसन की उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती, खाने के लिए प्रभु ने वन में फल उत्पन्न किये हैं, तृपा के लिए झरने हैं, पात्रों के स्थान पर हाथ हैं तथा वसनों के लिए वल्कल।

इस प्रकार अनेक पदों में सूर ने वैराग्यपूर्ण भक्ति का प्रतिपादन किया है। आत्म-ज्ञान के बिना मनुष्य की बड़ी दुर्गति होती है। जब तक मनुष्य को सत्-स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक वह मृग की भांति संसार-वन में घूमता रहता है। तेल, तूल और पावक पुट में भर कर रखने से प्रकाश नहीं होता, आत्म-ज्ञान के अभाव में आदमी सब कुछ भूला रहता है और ससार में भ्रमता रहता है। राजा परीक्षित के ऊपर इस उपदेश का पूरा-पूरा असर सूर ने दिखाया है। इन पदों से यही निष्कर्ष निकलता है कि सूर ने आत्म-ज्ञान और तज्जन्य वैराग्य को ही भक्ति का एकमात्र साधन माना है। सूरसागर के तृतीय स्कन्ध में भगवान् 'कपिल' ने अपनी माता 'देवहूति' को आत्म-ज्ञान का उपदेश दिया है, उस समय भी सूर ने भक्ति के लिए वैराग्य की आवश्यकता बताई है और वह वैराग्य आत्म-ज्ञान से ही हो सकता है। पुरञ्जन कथा में भी सूर ने वैराग्य और भक्ति का सम्बन्ध स्थापित किया है। इस प्रकार के और भी अनेक प्रसङ्ग सूरसागर में मिलते हैं।

सूर द्वारा भक्ति-निरूपण में दूसरी बात यह भी द्रष्टव्य है कि सूर ने उस समय में प्रचलित योग-मार्ग की निन्दा की है। उनके बहुत से पदों में भक्ति के सामने योग-मार्ग की निरर्थकता का प्रतिपादन किया गया है। वैराग्य योग-मार्ग का प्रधान साधन है, परन्तु सूरदास जी वैराग्य को भक्ति

का साधक मानते हैं, जबकि योग-मार्ग के साधुओं की निन्दा करते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"भक्ति विना जौ कृपा न करते तौ हौं आस न करतौ।

× × ×

साधु-सील सद्रूप पुरुष कौ अपजस वहु उच्चरतौ।
औघड-असत कुचीलनि सों मिलि, मायाजल में तरतौ।"

इसी प्रकार भक्ति-पंथ का निरूपण करते हुए वे कहते हैं:—

"भक्तिपंथ कौं जो अनुसरै। सो साष्टाङ्ग जोग कौं करै।
यम, नियमासन, प्रानायाम। करि अभ्यास होइ निष्काम।
प्रत्याहार, धारना, ध्यान। करै जु छाँडि वासना आन।
क्रम क्रम सौं पुनि करै समाधि। 'सूर' स्याम भजि मिटै उपाधि॥"

अर्थात् भक्ति-पंथ का अनुसरण करके ही अष्टाङ्ग-योग की सिद्धि सम्भव है, क्योंकि भक्त यम, नियम, प्राणायाम का अभ्यास करके निष्काम होता है, परन्तु प्राणायाम, धारणा, ध्यान के लिए वासनाओं का त्याग परमावश्यक है। वासनाओं के त्याग से ही इन क्रियाओं का महत्त्व है और उसी प्रकार क्रम-क्रम से समाधि करने पर भगवद्भजन से उपाधि मिटती है। इसी भाव को उन्होंने आगे प्रकट किया है कि भगवान् के भजन बिन योग आदि क्रियाएं व्यर्थ हैं। इन पदों से सिद्ध होता है कि सूरदासजी योग-मार्ग के तो विरुद्ध नहीं हैं, पर उन दूषित भावनाओं और क्रियाओं के विरुद्ध हैं, जिन्हें योग-मार्गी साधुओं ने अपना लिया था।

तीसरी वात इस भक्ति-विवेचन की उल्लेखनीय यह है कि सूरदास जी ने सन्त-मत के भी तत्त्वों को अपनाया है। जाति-पाँति के विषय में तथा स्त्रियों के भक्ति-अधिकार के विषय में हम निर्देश कर चुके हैं। इस

निर्गुण पन्थ का विशद विवेचन भ्रमरगीत वाले प्रसङ्ग में हुआ है, जहाँ इस पन्थ की क्रियाओं के प्रति कवि ने उदासीनता प्रकट की है। उस स्थल पर प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप हम उस समय का मानते हैं, जब सूर पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित हो चुके थे और उनका भक्ति का आदर्श ही बदल गया था तथा उनकी भक्ति का आधार मायामय संसार के प्रति विराग नहीं रह गया था। वहा तो उन्होंने उस सहज भक्ति-मार्ग का निरूपण किया है, जिस का आधार कृष्ण की रूपमाधुरी और लीलाएँ हैं, इस लिये वहाँ निर्गुणपंथ के प्रति उनकी उदासीनता ही नहीं, स्पष्ट विरोध भी है। सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले सूरदास जी सन्त-मत को पूर्ण आदर के साथ देखते थे, यही कारण है कि उनके कई पद कबीर के पदों के समकक्ष रखे जा सकते हैं। कबीर की भाँति उन्होंने भी माया के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है और भगवान् के उस परम धाम की ओर भी संकेत किया है जहा सासारिक दुःखों का लेश नहीं।

सूरदास जी यद्यपि भक्ति के साध्यरूप को ही महत्त्व देते थे और प्रेम ही उनकी साध्यरूपा भक्ति का आधार है तथापि स्थान-स्थान पर हमें सूरसागर में वैधी भक्ति के भी उदाहरण मिल जाते हैं। गोपियों को प्रेमा भक्ति का आश्रय मानकर उनके माध्यम से सूर ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उनके समय में बहुत से योगी और ज्ञानी थे जिन में कुछ नाथपथ के और कुछ निर्गुणमत के अनुयायी थे। भारतीय शास्त्र-पद्धति के अनुकरण पर साधन-स्वरूपा भक्ति के मानने वाले भी बहुत से भक्त थे, सूरसारावली में इन सब की ओर संकेत किया गया है —

कर्मयोग पुनि ज्ञान-उपासन, सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला-भेद बतायो।

ता दिन ते हरि लीला गाई, एक लक्ष पद वन्द।
ता को सार सूर सारावलि गावत अति आनन्द॥

सूरसारावली, सूरसागर (वेंकटेश्वर प्रेस) पृष्ठ ३८।

सूरदास जी के भक्ति-विवेचन से ज्ञात होता है कि वल्लभ के मिलने से पहले उनका मन स्थिर नहीं था और इसीलिए वे घिघियाते भी थे। यही कारण है कि उनके भक्ति-विवेचन में उत्तरोत्तर निश्चित रूप से अन्तर प्रतीत होता है। निर्गुण पंथ के प्रति प्रारम्भ में उनकी सहिष्णुता उदासीनता के रूप में परिणत होती हुई 'भ्रमर-गीत' में पूरे विरोध का रूप धारण कर लेती है। सूरसागर के देवहूति-कपिल संवाद में सूर ने भक्ति की विस्तृत व्याख्या करते हुए उसके चार रूप बताए हैं। त्रिगुण भक्ति को सुधासार भक्ति कहा है। यही प्रेमा भक्ति है। भक्तों की भी उन्होने दो कोटियाँ मानी हैं—सकाम भक्त और अनन्य भक्त। कर्म, ज्ञान और योग के संबन्ध से भक्त तीन प्रकार के माने गए हैं—कर्मयोगी भक्त, भक्तियोगी भक्त और ज्ञानयोगी भक्त। कर्मयोगी भक्त अधर्म-आचरण से दूर रहता हुआ वर्णाश्रम नियमों का पालन करता है, उसे मर्यादायुक्त भक्त कहा जा सकता है। भक्तियोगी भक्त प्रभु की प्रीति रखता हुआ उसके स्मरण और अर्चन में दत्तचित्त होकर क्रम-क्रम करके मुक्ति प्राप्त करता है। ज्ञानयोगी भक्त सबको ब्रह्म समझ कर सबसे प्रेम करता है[1]। भगवद्गीता में भी चार प्रकार के भक्तों का वर्णन आया है:—

चतुर्विधा भजन्ते मा जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।

गीता—७-१६

---

१. सूरसागर, पद ३९४।

भागवत में नवधा भक्ति का विवेचन हुआ है किन्तु सूर ने प्रेम-स्वरूपा भक्ति का भी उल्लेख किया है[१]। वल्लभाचार्य ने नवधा भक्ति को प्रेमस्वरूपा भक्ति का साधन माना है। सूरदास जी ने भी साधन रूप में ही नवधा भक्ति को कह कर इसी प्रेमा भक्ति की ओर संकेत किया है। इन नौ प्रकार की भक्तियों में प्रथम छै प्रकार के साधनों का इतना विशद विवेचन सूर ने नहीं किया है जितना अन्तिम तीन का। पहले तीन प्रकार की भक्ति भगवान् के नाम और लीला से सम्बन्ध रखती है, दूसरे तीन प्रकार की रूप से और अन्तिम तीन प्रकार की मन से सम्बद्ध है। मन से सम्बद्ध भक्ति ही रस की कोटि तक पहुँचती है और इसी लिए रूप गोस्वामी ने पाँच मुख्य रसों में ही उसका अन्तर्भाव कर दिया है। प्रीति रस में दास्यभाव, प्रेम में सख्यभाव, वात्सल्य में वत्सलता, मधुर रस में आत्म-निवेदन और शान्त रस में संसार से विरक्ति का भाव है। अब हम सक्षेप में सूर की वैधी भक्ति का विवेचन करेंगे।

श्रवण, स्मरण, कीर्तन—

इन तीनों में भगवन्नाम का ही महत्त्व है। नाम-महिमा का प्रतिपादन करने वाले अनेक पद सूर ने लिखे हैं[२]। हरि-नाम का प्रभाव ही ऐसा है कि महान् से महान् पापी भी इसके सहारे से भवसागर पार हो जाता है —

> "को को न तर्यौ हरि नाम लियें।
> सुआ पढावति गनिका तारी, व्याध तरो सर घात किये।

---

१ श्रवण कीर्तन पादरत, अरचन वन्दन दास।
सख्य और आत्म-निवेदन प्रेमलक्षणा जास।

२ सूरसागर, पद ८९,९०,९१ आदि।

प्रभु तें जन-जन तें प्रभु वरतत, जाकी जैसी प्रीति हियें।"

(सूरसागर, पद ८९)

भगवान् का यशोगान करने से भक्ति सहज ही प्राप्त हो जाती है[1]। राम नाम का बड़ा सहारा है[2] इसलिए वही धन्य है जो राम का गान करता है[3]। हरि-स्मरण के विना मुक्ति भी संभव नहीं, उसी से सब सुखों की प्राप्ति होती है। भगवान् के साक्षात्कार का भी यही साधन है। सौ बातों की एक बात तो यह है कि दिन-रात भगवान् का स्मरण करना चाहिए :—

"सौ बातनि की एकै बात।
सूर सुमरि हरि हरि दिन रात।"

(सूरसागर, पद ३४८)

इसी प्रकार कीर्तन के महत्त्व का भी उन्होंने प्रतिपादन किया है। भगवान् के नाम, गुण, लीला, धाम आदि का प्रेम और श्रद्धा के साथ कथा-पाठ और गान कीर्तन कहलाता है। संगीत-कला-विशारद सूर ने कीर्त्तन में संगीत का पुट देकर सोने में सुगन्ध उत्पन्न कर दी। कीर्तन में गान, वाद्य और नृत्य तीनों ही सम्मिलित हैं। सूरदास जी जन्मसिद्ध गायक थे और उन्होंने न जाने कितनी राग-रागनियों का समावेश सूरसागर में किया है? संगीताचार्यों के लिये यह अलग ही खोज का एक विषय है। सूरदास जी अपने पदों को 'रचते' या 'कहते' नहीं अपितु गाते हैं। 'ताते सूर सगुन पद गावै' कह कर वे स्पष्ट ही अपनी संगीतज्ञता का परिचय देते हैं।

१ भक्तिपंथ मेरे अति नियरैं जब तब कीरति गाई। सूरसागर पद ९३

२. 'वड़ी है राम नाम की ओट' वही, पद २३२।

३. सोई भलौ जो रामहिं गावै। वही, पद २३३।

भगवान् के लीलागान में ही उन्हें सच्चे सुख की उपलब्धि होती है। सूरदास जी उसी रसना को रसना कहते हैं, जो भगवान् के गुणों का कीर्तन करती है और उन्ही कानों को कान कहते हैं जो हरिकथा का श्रवण कर अमृतरस प्राप्त करते हैं।

हरि-कीर्तन के समान ही हरिगुण-श्रवण का भी स्थान-स्थान पर सूरसागर में महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। भगवान् के गुण, यश, लीला आदि का सुनना सुनाना ही श्रवण-भक्ति है। सूरदास जी भगवान् की लीला का वर्णन करके प्रायः अन्त में कह दिया करते हैं—

"जो यह लीला सुनै सुनावैं।
सो हरिभक्ति पाइ सुख पावै।"
अथवा
जो पदस्तुति सुनै सुनावै।
सूर सो ज्ञान-भक्ति को पावै॥

सूरसागर में स्थान-स्थान पर इसी प्रकार लीला-श्रवण का माहात्म्य बताया गया है। एक स्थान पर सूर कहते हैं, "मैं रसमयी रासलीला को गा कर सुनाता हूँ। जो इस रासलीला के रस का गान और श्रवण करते हैं, उनके चरणों में मैं अपना मस्तक नवाता हूँ। मैं एक रसना से इस लीला के कथन एवं श्रवण के फल का वर्णन करने में असमर्थ हूँ। उसके सामने अष्टसिद्धि और नवनिधि की सुख-सपत्ति भी कुछ नहीं है। भगवान् की कथा के श्रोता और वक्ता धन्य हैं, क्योंकि भगवान् कृष्ण सदा ही उनके निकट रहते हैं[1]।

पाद-सेवन, वन्दन और अर्चन—

ये तीनों प्रकार के भक्ति-साधन भगवान् के रूप से सम्बन्ध रखते हैं

१ सूरसागर (ना प्र सभा) ३५०वाँ पद।

और पुष्टि सम्प्रदाय की सेवाविधि में इनका बड़ा महत्त्व है। पाद-सेवन में मूर्ति-पूजा, गुरु-पूजा और भगवद्भक्त-पूजा भी सम्मिलित है। इन पूजाओं के अनन्तर भक्त में दास्य-प्रेम का आविर्भाव होता है, फिर भक्त मानसिक पाद-सेवन की कोटि तक पहुँचता है और भगवान् के अभौतिक चरणों की सेवा करता है। सूरदास जी गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी के मन्दिर में भगवान् की पूजा करते थे जिसमें तीनों ही प्रकार के भक्ति-साधन थे। उनके अनेक पदों में नन्द-नन्दन चरणों को भजने की बात कही गई है। सूरसागर का प्रथम पद ही भगवान् के चरण-कमलों की वन्दना से प्रारम्भ होता है—

"चरन कमल वन्दौं हरिराइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौं सबकुछ दरसाइ।
वहिरौ सुनै मूक पुनि वोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, वार-वार वन्दौं तिहिं पाइ॥"

भगवान् के चरणों की वन्दना कर के न जाने कितने जनों का उद्धार हो गया? सूर कहते हैं—भगवन्! मैं आप के कमलरूपी चरणो की वन्दना करता हूँ। वे चरण शिव, यमुना आदि के सर्वस्व हैं। जिन चरणों की अनुकम्पा से प्रह्लाद ने मुक्ति प्राप्त की, अहिल्या वलि, नृग आदि का उद्धार हुआ, जिनके ऊपर गोपिकाओं ने अपना सर्वस्व लुटा दिया, जिनके प्रसाद से पाण्डवों के कार्य सिद्ध हुए और जो तीनों प्रकार के तापों को हरने वाले हैं। आगे चल कर सूर अपने मन को संवोधित करके कहते हैं—'हे मन! नन्द-नन्दन के चरणों की सेवा कर, जो बड़े सुन्दर और पवित्र हैं तथा जिन के प्रसाद से बहुत से पापी तर गए।

श्रद्धा सहित भगवान् के स्वरूप की उपासना 'अर्चन-भक्ति' कही गई

है। 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में अर्चन का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

> अर्चनं तूपचाराणा स्यान्मन्त्रोपपादनम्।
> परिचर्या तु सेवोपकरणादिपरिष्क्रिया ॥

वल्लभ सम्प्रदाय में अर्चन-भक्ति का बड़ा महत्त्व है और इस सम्प्रदाय के मन्दिरों में आठों पहर की सेवा में अर्चन के पृथक्-पृथक् विधान हैं। सूरदास जी के अनेक पद भगवान् के अर्चावतार रूप की स्तुति में कहे गये हैं। श्याम के स्वरूप का भिन्न-भिन्न रूप से सूर ने वर्णन किया है। उनके अनेक पोज़, अनेक भाव और अनेक व्यापारों के सूचक एक से एक बढकर सैंकड़ों शब्द-चित्र सूरसागर मे मिलेंगे। भगवान् के विराट् स्वरूप और आरती का भी उन्होंने मनोहर चित्रण किया है। (सूरसागर पद ३७०-७१) वन्दन और अर्चन दोनों भक्तियों के व्यापार साथ-साथ चलते हैं क्योंकि वन्दन में भी भक्त के दास्यरूप का ही अभिव्यञ्जन है। सूर के दैन्यभाव के पद वन्दना के ही पद कहे जा सकते हैं। सूर की वन्दना केवल भगवच्चरणों तक ही सीमित नहीं है प्रत्युत भगवान् के विविध अंग, वस्त्र, वेष-भूषा तथा कृत्यो की भी सूर ने वन्दना की है। वे एक भावुक और भक्त कवि थे, यही कारण ह कि उनकी भावुकता वन्दना के पदों में शतमुखी होकर प्रवाहित हुई है। आराध्यदेव से सम्पर्क रखने वाली चेतन अथवा अचेतन प्रत्येक वस्तु सूर के लिये वन्दनीय है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रिय के सम्पर्क से सभी पदार्थ प्रिय हो जाते हैं। सम्बन्ध-निर्वाह की यह भावना श्रीमद्भागवत में भी स्थान-स्थान पर मिलती है।

दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन—

ये तीनों मानसिक भाव हैं और भक्तिरस के मूल हैं। प्रेम-भक्ति की दो अवस्थाएँ होती हैं -प्रेमावस्था और भावावस्था। जब कृष्ण के

प्रति भक्त का चिद्‌विषयक रतिभाव सान्द्र हो जाता है, तब उसे प्रेम कहते हैं। 'रूप गोस्वामी' ने मुख्य रूप से पाँच भक्तिरस मानकर इन तीनों भावों को उन्हीं के अन्तर्गत मान लिया है। यों तो भक्ति के अनेक मानसिक भाव हैं और वे सभी भगवान्‌ के सम्बन्ध से अलौकिक हो जाते हैं परन्तु प्राधान्य इन्हीं पाँच भावों का है। इन भावों के अनुकूल भक्ति के भी पाँच प्रकार हो जाते हैं। इन्हीं को दृष्टि में रखते हुए सूर की भक्ति-भावना का विवेचन किया जायेगा।

शान्ता भक्ति—

'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्ति-विषयक पाँचों रसों का साङ्गोपाङ्ग विशद विवेचन हुआ है और इनके स्थायीभाव, विभाव, सात्विक और संचारी भावों पर भी प्रकाश डाला गया है। यद्यपि सूरदास ने शास्त्रीय ढंग से कहीं इनका विवेचन नहीं किया है, क्योंकि उनका काव्य लक्षण-काव्य नहीं है, तथापि उसमें उनके भक्त-हृदय से निकली हुई स्वाभाविक उक्तियों में इनके अनेक चिह्न मिल जाते हैं। शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद है, वह निर्वेद, जो तत्त्वज्ञान से उत्पन्न होता है। वैराग्य, दैन्य, विनय आदि भावों से प्रेरित होकर सूर ने जो पद लिखे हैं उन्हें शान्ता भक्ति-विषयक पद कहा जा सकता है। संसार से तो वे पहले से ही विरक्त थे जिस के फलस्वरूप हमें उनमें दो प्रकार की चेष्टाएँ दीख पड़ती हैं। एक ओर तो कवि संसार के नाना रूपों और व्यवहारों का तिरस्कार करता दीख पड़ता है और दूसरी ओर भगवान्‌ की अनुकम्पा और भक्तवत्सलता का वर्णन करता तथा अपनी हीनता का परिचय देता हुआ दिखाई देता है। भक्त के शान्त और दास्य दोनों ही भाव समन्वित होकर चलते हैं। उसे संसार से विरक्ति ही नहीं, आत्मग्लानि भी है, जिसके कारण वह कातर होकर प्रभु को पुकारता है —"हे नाथ! मेरी रक्षा करो" साथ ही साथ वह अपनी

उद्योग-हीनता और भगवान् की भक्त-वत्सलता का तुलनात्मक विवेचन भी करता है। वल्लभाचार्य के 'अन्त करण-प्रबोध' में दास्य भक्ति में आत्मदोष प्रकाशन, विनय-याचना, दीनता आदि भावों का समावेश है। सूर के विनय पदो में इस प्रकार के भाव भरे पड़े हैं। यह कहना कि सूर की दास्य अथवा शान्ता भक्ति वल्लभाचार्य जी के शिष्य होने से पहले की है, उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि आचार्य वल्लभ ने स्वय दास्य-भक्ति को महत्त्व दिया और सूर ने विनय पदों के अतिरिक्त भी कई स्थलों पर भक्त का दैन्य-भाव प्रकट किया है। द्वादश स्कन्ध में 'रुक्मिणी' का भक्ति-भाव तथा नवम स्कन्ध में 'रामस्तुति' इसके उदाहरण हैं। जहाँ-जहाँ सूर ने भक्तों के चरित्र का वर्णन किया है वहाँ भगवान् की भक्त-वत्सलता का भी विवेचन किया है। प्रह्लाद-चरित्र, कालिय-दमन, चीर-हरण, गोवर्द्धन-लीला आदि प्रसङ्गों में, भगवान् की भक्त-वत्सलता और भक्त के दैन्य, दोनो का साथ-साथ वर्णन है।

सख्य-भक्ति —

पुष्टि-सम्प्रदाय में सख्यभाव की भक्ति का बड़ा महत्त्व है। अष्टछाप के आठों कवियों ने भी सख्यभाव को ही अपनाया था। सूरदास के सखाभाव में यह विशेषता है कि उसमें एक ओर तो मनोवैज्ञानिक रूप से मानवीय सम्बन्धों का निर्वाह किया गया है और दूसरी ओर भक्ति की पूर्ण तल्लीनता और भावात्मकता की अनुभूति भी की गई है। कृष्ण की ओर से सखाओं के प्रति प्रकटित आत्मीयता और घनिष्ठता स्वाभाविक है, जिस से स्नेह की मधुरिमा बाल-सुलभ-चापल्य से प्रेरित वाद-विवाद के वाद भी अधिक आस्वाद्य हो उठती है तथा जिस में क्रीडाओं की तरलता के साथ कर्त्तव्य की भावना का गौरव भी स्पष्ट रूप से झलक मारता दिखाई देता है। सूर का सख्य-वर्णन विश्व-साहित्य में बेजोड है। ग्वाल-सखाओं में कृष्ण के प्रति भगवान् की भावना अथवा उनके विहित

कार्यों के प्रति भक्तिभाव सूर ने बहुत कम स्थलों पर दिखाया है, उधर भगवान् कृष्ण स्वयं सखाओं को अपने गौरव से आक्रान्त करना नहीं चाहते। उनके पराक्रमपूर्ण कृत्यों को देख कर सखाओं के हृदय में आने वाले विस्मय तथा आतङ्क के भाव क्षणिक हैं, अतएव शीघ्र ही उन्हें भूल कर गोप बालक कृष्ण के साथ पुन. सखावत् घुल-मिल जाते हैं। सूरसागर में बाल-लीलाएँ, गोचारण-लीलाएँ, और सुदामा के दारिद्रय का विदारण ये तीनो स्थल सख्यभक्ति के हैं। कृष्ण के सखाओ में सूर ने सुबल, सुदामा और श्रीदामा का विशेष रूप मे उल्लेख किया है। उन के बड़े भाई हलधर भी उनके सखाओ में ही हैं। कृष्ण के कुछ सखा तो ऐसे हैं जो उनसे बड़े हैं और हलधर के साथी होने के कारण कृष्ण से स्नेह करते हैं तथा विनोद के लिए कभी-कभी उन्हें चिढ़ाते भी हैं। कुछ सखा उनसे छोटे हैं, जो उनके स्नेह के पात्र हैं। ये दोनों ही प्रकार के सखा कृष्ण की गोपी-केलियों के सहयोगी नहीं हैं। उनके समवयस्क सखा ही उनके पूर्ण विश्वास-पात्र हैं, जो उनके साथ सब प्रकार की केलियों में रहते हैं और उनके सभी रहस्यों को जानते हैं। ये समवयस्क सखा ही भगवान् के सच्चे भक्त हैं। इनकी संयोग और वियोग दोनों ही अवस्थाओं का वर्णन कवि ने किया है। इस सखा-भाव में भी सूरदास जी ने कहीं-कहीं भक्तिभाव दिखाया है। वृन्दावन के धेनु-चारण का वर्णन करते हुए सूरदास जी कहते हैं— "भगवान् कृष्ण वृन्दावन में गौवें चराते हैं और सब ग्वाल-सखाओ के साथ आनन्द से खेलते हैं, वे अपने धाम को बिसार कर मानो इन सुख की क्रीडाओं के लिए ही वृन्दावन पधारे हैं[1]।" १०६८वें पद में ग्वाल-बाल भक्ति-भाव से कृष्ण से प्रार्थना करते हैं— 'हे श्याम! तुम हमें भुला न देना, जहाँ-जहाँ तुम देह धारण करो वहाँ-वहाँ हमें अपने चरणों से

१ सूरसागर (ना० प्र० सभर) पद, १०६६।

अलग न होने देना' इन ग्वाल-बालों के सख्यभाव और उनके प्रति कृष्ण के प्रेम को देखकर ब्रह्मा का गर्व भी नष्ट हो जाता है और वे कृष्ण की स्तुति करते हुए ब्रजवासियों के भाग्य की सराहना करते हैं और स्वयं भी यही कामना करते हैं कि वे ब्रज में ही उत्पन्न हों और ग्वालो के जूठे अन्न स ही उन्हें पेट भरना पड़े[1]। कृष्ण के सख्यभाव में सब से बडी विशेषता है, उस में स्वाभाविकता का समावेश जिस के दर्शन हमें कृष्ण की प्रत्येक अलौकिक लीला से पहले होते हैं। कालिय-दमन, गोवर्द्धन-धारण, वृषभासुर-वध आदि लीलाओं के स्थलो पर कृष्ण के सखा उनके अलौकिकत्त्व को भूले हुए हैं।

दान-लीला में उन्होंने अपने कुछ सखाओं को साथ लिया है, इस से स्पष्ट है कि वे अपनी रासलीलाओं में भी सखाओं का परामर्श लेते थे। राधा और कृष्ण की गोपनीय लीलाओं से भी ये सखा अनभिज्ञ नहीं थे। स्वयं राधा ने कृष्ण से इस बात की शिकायत की है कि 'तुम मुझे सखाओं में लज्जा से क्यों मारे डालते हो ?' गोपसखा मोहन की मुरली से भी अत्यन्त प्रभावित हैं। मुरली की ध्वनि सुनने के लिए वे लालायित हो उठते हैं और कहते हैं —"छबीले मुरली नेकु बजाउ।" आचार्य हजारीप्रसाद जी ने इस पद का विवेचन करते हुए लिखा है—

"इस गान में ग्वाल-बालों को उपलक्षण करके सूरदास की आत्मा अपनी आकुलता प्रकट करती है। अगर हम से कोई पूछे कि 'सूर-सागर' का 'सेन्ट्रल थीम' क्या है ? तो बिना किसी हिचकिचाहट के चिल्ला उठेंगे— 'छबीले मुरली नैकु बजाउ' नि.सन्देह सखाओं के व्याज से सूरदास ने स्वय अपने मनोभाव को प्रकट किया है।"

संयोग में ही नहीं, वियोग में—कृष्ण के मथुरा चले जाने पर और वहाँ राजा हो जाने पर—भी सूर ने सख्यभाव को बनाए रखा है।

१. सूरसागर पद ११०३ से ११०९।

बाल्यकाल के सहचर अपनी मित्रता के मार्ग में पद अथवा स्थान के व्यवधान को उत्पन्न ही नहीं होने देते। कृष्ण के समवयस्क उन्हें सखा ही मानते हैं, भले ही वे आज महाराज हो गये हो पर उनके लिये तो यशोदानन्दन, व्रजमोहन, माखनचोर, मुरलीधर श्याम ही हैं।

वात्सल्य—

सख्यभाव की भक्ति के समान ही सूर की वात्सल्य-भक्ति भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो वात्सल्य-भक्ति अन्य सब प्रकार की भक्तियों से उच्च प्रतीत होगी क्योंकि वात्सल्य-भाव में किसी भी प्रकार के स्वार्थ की गन्ध तक नहीं रहती, अतएव इसे हम निष्काम भक्ति का पोषक कह सकते हैं। यह एक व्यापक भाव है, क्योंकि इसकी स्थिति प्राणिमात्र में होती है। सूर का वात्सल्यभाव भी विश्व के साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। यदि यह कहा जाय कि सूर ने पुरुष होकर भी माता का हृदय पाया था तो असंगत न होगा क्योंकि कृष्ण की बाल-क्रीडाओं का यशोदा के साथ साक्ष्य करने वाला यह प्रज्ञाचक्षु सन्त भक्तिभाव के अतिरेक से अपने अस्तित्व को उसके व्यक्तित्व में घुला-मिला देता था और फिर यशोदा की आंखों से कृष्ण की क्रीडाओं का आनन्द लेता था। सूर के वात्सल्य पर प्रकाश डालते हुए आ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं— "यशोदा के वात्सल्य में वह सब कुछ है जो 'माता' शब्द को इतना महिमाशाली बनाये हुये है।" इस से आगे वे फिर कहते हैं —

"यशोदा के बहाने सूरदास ने मातृ-हृदय का ऐसा स्वाभाविक, सरल और हृदयग्राही चित्र खींचा ह कि आश्चर्य होता है। माता संसार का ऐसा पवित्र रहस्य है जिसे कवि के अतिरिक्त और किसी को व्याख्या करने का अधिकार नहीं। सूरदास जहाँ पुत्रवती जननी के प्रेमपेलन हृदय को छूने में समर्थ हुए हैं, वहाँ

वियोगिनी माता के करुणा-विगलित हृदय को भी छूने में समर्थ हुए हैं[1]"
'परन्तु सूरदास के वात्सल्यभाव का आश्रय केवल यशोदा ही नहीं है'—
यद्यपि इसकी पूर्ण निष्पत्ति यशोदा में ही दिखाई गई है और अन्य पात्रों
का वात्सल्य तो मानों तुलना के द्वारा यशोदा के वात्सल्यभाव की पूर्ण
अनुभूति के लिए ही चित्रित किया गया है—नन्द वात्सल्य के दूसरे पात्र हैं।
व्रज की वयस्क नारियों में भी इस भाव के दर्शन होते हैं। वसुदेव-देवकी
में भी इस भाव की थोड़ी सी छाया है किन्तु उसमें इतनी अधिक सघ-
नता नहीं क्योंकि उनके भाव का आश्रय शिशु कन्हैया न हो कर ऐश्वर्य-
शाली, प्रतापवान् पुत्र कृष्ण है। यशोदा में ही वात्सल्य की परिपक्वता है
जो भक्ति-रस की कोटि तक पहुँचा है। केवल वात्सल्य ही भक्ति का
सर्वशुद्ध भाव है जिसमें न तो विरक्ति की भावना है और न इन्द्रियसुख
की कामना ही। लोकधर्म का भी उल्लङ्घन इसमें नहीं है। वात्सल्यभाव
के आलम्बन बालकृष्ण हैं और उनकी लीलाएँ उद्दीपन का कार्य करती
हैं और स्वाभाविक होने के कारण आश्रय में भाव की दृढता स्वतः करती
जाती हैं। वात्सल्य के दोनों—संयोग और वियोग—पक्षों में रख
कर कवि ने यशोदा को देखा है। व्रज में हरि के प्रकट होने के
साथ ही साथ सूर ने आनन्द का ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया है
जिसमें स्वयं पाठक भी नन्द, यशोदा, गोप, गोपियाँ आदि के साथ अपने
आप को भूलकर विचरण करने लगता है। कृष्ण के मथुरा जाने तक
यशोदा में संयोगात्मक भाव की दृढता होती चली जाती है। मथुरागमन
की सूचना से ही वियोग की अनुभूति का प्रारम्भ हो जाता है। वह
पागल सी हो कर कहती है—'यह सुफलक सुत हमारा वैरी है, यह
हमारी सम्पत्ति को लूटे लिये जा रहा है, अरे! व्रज में कोई हमारा
हितचिन्तक है, जो मेरे जाते हुए गोपाल को रोक ले[2]।' जब नन्द कृष्ण

१ सूरसाहित्य, पृष्ठ १२९–१३०।

२ सूरसागर, पद ३५९०–९८।

को मथुरा पहुँचा कर वापस लौटे, तो यशोदा ही उन्हें लिवाने के लिये सर्वप्रथम पहुँची क्योंकि उसे आशा थी कि उनका गोपाल भी नन्द के साथ आया होगा पर जब नन्द को अकेले ही देखा तो यशोदा आपे में न रही और नन्द पर बरस पड़ी। सुत-वियोग-विक्षिप्ता यशोदा की पूज्य पति के प्रति भी वक्तव्यावक्तव्य-विचार-मूढता उनके वात्सल्य के उमड़ते ज्वार की सूचक है। पुत्र के खान-पान, रहन-सहन आदि की कितनी ही समुचित व्यवस्था हो, उसकी देख-रेख का प्रबन्ध कैसे ही सुयोग्य हाथों में क्यों न हो और उसका सम्बन्ध कैसे ही उदार हृदयों से क्यों न स्थापित हो गया हो; फिर भी स्नेहातिरेकवश माता को उसी की चिन्ता रहती है। वह विश्वास ही नहीं कर सकती कि उसके समान उसके लाल की देखभाल कोई अन्य व्यक्ति कर सकता है। यह एक शाश्वत सार्वभौम मनोवैज्ञानिक तथ्य है जिसका अभिव्यञ्जन सूर ने निम्नलिखित पद में कितनी खूबी के साथ किया है—

"सँदेसो देवकी सौं कहियौ।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, मया करत ही रहियौ।
जदपि टेव तुम जानति है हौ, तऊ मोँहिं कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैतें, माखन रोटी भावै।
तेल उबटनो अरु तातो जल, देखि देखि भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती, क्रम-क्रम करिकै न्हाते।
'सूर' पथिक सुनि, मोहिं रैनि दिन, बढ्यौ रहत उर सोच।
मेरौ अलक लडैतो मोहन, ह्वै है करत सँकोच[1]॥"

इस प्रकार यशोदा के वात्सल्य में सूर ने इतनी तन्मयता और मनोवैज्ञानिकता भर दी है कि कृष्ण के अतिप्राकृत कार्यों को प्रत्यक्ष देखते

१. सूरसागर, पद ३७९३।

वियोगिनी माता के करुणा-विगलित हृदय को भी छूने में समर्थ हुए हैं[1]"
'परन्तु सूरदास के वात्सल्यभाव का आश्रय केवल यशोदा ही नहीं है'—यद्यपि इसकी पूर्ण निष्पत्ति यशोदा में ही दिखाई गई है और अन्य पात्रों का वात्सल्य तो मानों तुलना के द्वारा यशोदा के वात्सल्यभाव की पूर्ण अनुभूति के लिए ही चित्रित किया गया है—नन्द वात्सल्य के दूसरे पात्र हैं। व्रज की वयस्क नारियों में भी इस भाव के दर्शन होते हैं। वसुदेव-देवकी में भी इस भाव की थोड़ी सी छाया है किन्तु उसमें इतनी अधिक सघनता नहीं क्योंकि उनके भाव का आश्रय शिशु कन्हैया न हो कर ऐश्वर्यशाली, प्रतापवान् पुत्र कृष्ण है। यशोदा में ही वात्सल्य की परिपक्वता है जो भक्ति-रस की कोटि तक पहुँचा है। केवल वात्सल्य ही भक्ति का सर्वशुद्ध भाव है जिसमें न तो विरक्ति की भावना है और न इन्द्रियसुख की कामना ही। लोकधर्म का भी उल्लङ्घन इसमें नहीं है। वात्सल्यभाव के आलम्बन बालकृष्ण हैं और उनकी लीलाएँ उद्दीपन का कार्य करती हैं और स्वाभाविक होने के कारण आश्रय में भाव की दृढता स्वत करती जाती हैं। वात्सल्य के दोनों —संयोग और वियोग—पक्षों में रख कर कवि ने यशोदा को देखा है। व्रज में हरि के प्रकट होने के साथ ही साथ सूर ने आनन्द का ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया है जिसमें स्वय पाठक भी नन्द, यशोदा, गोप, गोपियाँ आदि के साथ अपने आप को भूलकर विचरण करने लगता है। कृष्ण के मथुरा जाने तक यशोदा में सयोगात्मक भाव की दृढता होती चली जाती है। मथुरागमन की सूचना से ही वियोग की अनुभूति का प्रारम्भ हो जाता है। वह पागल सी हो कर कहती है—'यह सुफलक सुत हमारा वैरी है, यह हमारी सम्पत्ति को लूटे लिये जा रहा है, अरे! व्रज में कोई हमारा हितचिन्तक है, जो मेरे जाते हुए गोपाल को रोक ले[2]।' जब नन्द कृष्ण

१ सूरसाहित्य, पृष्ठ १२९–१३०।

२ सूरसागर, पद ३५९०–९८।

को मथुरा पहुँचा कर वापस लौटे, तो यशोदा ही उन्हें लिवाने के लिये सर्वप्रथम पहुँची क्योंकि उसे आशा थी कि उनका गोपाल भी नन्द के साथ आया होगा पर जब नन्द को अकेले ही देखा तो यशोदा आपे में न रही और नन्द पर बरस पड़ी। सुत-वियोग-विक्षिप्ता यशोदा की पूज्य पति के प्रति भी वक्तव्यावक्तव्य-विचार-मूढता उनके वात्सल्य के उमड़ते ज्वार की सूचक है। पुत्र के खान-पान, रहन-सहन आदि की कितनी ही समुचित व्यवस्था हो, उसकी देख-रेख का प्रबन्ध कैसे ही सुयोग्य हाथों में क्यों न हो और उसका सम्बन्ध कैसे ही उदार हृदयों से क्यों न स्थापित हो गया हो, फिर भी स्नेहातिरेकवश माता को उसी की चिन्ता रहती है। वह विश्वास ही नहीं कर सकती कि उसके समान उसके लाल की देखभाल कोई अन्य व्यक्ति कर सकता है। यह एक शाश्वत सार्वभौम मनोवैज्ञानिक तथ्य है जिसका अभिव्यञ्जन सूर ने निम्नलिखित पद में कितनी खूबी के साथ किया है—

"सँदेसो देवकी सौं कहियौ।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, मया करत ही रहियौ।
जदपि टेव तुम जानति है हौ, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैतें, माखन रोटी भावै।
तेल उबटनो अरु तातो जल, देखि देखि भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती, क्रम-क्रम करिकै न्हाते।
'सूर' पथिक सुनि, मोहिं रैनि दिन, बढ्यौ रहत उर सोच।
मेरौ अलक लड़ैतौ मोहन, ह्वै है करत सँकोच[1]॥"

इस प्रकार यशोदा के वात्सल्य में सूर ने इतनी तन्मयता और मनोवैज्ञानिकता भर दी है कि कृष्ण के अतिप्राकृत कार्यों को प्रत्यक्ष देखते

१. सूरसागर, पद ३७९३।

हुए भी उस भाव में परिवर्तन अथवा विकार नहीं आने पाया। यशोदा के वात्सल्यभाव में हृदय का पूरा संयोग है।

मधुरा-भक्ति—

सूर के समकालीन रूपगोस्वामी ने मधुर भक्तिरस का विशद विवेचन किया है। केवल इसी रस का वर्णन करने के लिए उन्होंने 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक ग्रन्थ की रचना की। यद्यपि इस भक्ति को वल्लभ-सम्प्रदाय में स्थान मिला है तथापि इसका शास्त्रीय विवेचन उस समय नहीं हुआ था। विट्ठलनाथ जी के समय में इसे बड़ा महत्त्व मिला। सम्भवत. इसीलिए अष्टछाप के कवियों ने इसका क्रियात्मक स्वरूप विशेष रूप से दिखाया। अपने ग्रन्थ 'शृङ्गार-मण्डन' में विट्ठलनाथ जी ने इस भक्ति का प्रतिपादन किया है। युगल-उपासना का महत्त्व भी सम्प्रदाय में उन्हीं के समय से बढ़ा। माधुर्यभाव की भक्ति शृङ्गार प्रेम की भक्ति कही जा सकती है। लौकिक प्रेम के जितने स्वरूप हो सकते हैं, वे सभी मधुर भक्ति में आ जाते हैं, अन्तर केवल इतना है कि लोक से हटा कर उन्हें ईश्वर से जोड़ दिया जाता है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने भक्त के मन को ऐन्द्रिय विषयों से हटाने के लिए यह एक उत्तम साधन बताया है, इसीलिए मधुर भक्ति के सम्बन्धों में अच्छे बुरे का ध्यान नहीं रहता। सभी सम्बन्ध परमात्मा के साथ हो सकते हैं। लोक-पक्ष में जिसे हम शृङ्गार रस कहते हैं, भक्ति-पक्ष में वही मधुर रस कहलाता है। इतना अन्तर अवश्य है कि आलङ्कारिकों के मत से अनौचित्यपूर्ण रति में शृङ्गाराभास होता है, जबकि भक्ति रस में औचित्य अनौचित्य का कुछ विचार ही नहीं होता। उसमें स्वकीया के साथ परकीया भाव की रति भी है, एवं सयोग और वियोग दोनों पक्ष भी शृङ्गार रस की ही भाँति हो सकते हैं। इस भक्ति रस में कान्तारूपा प्रीति कामरूपा भी हो सकती है और सम्बन्धरूपा भी। सूरदास जी

की भक्ति भी ऐसी ही है। यही कारण है कि हम भक्त सूरदास की अन्तरात्मा का अन्तर्भाव राधा में देखते हैं। उन्होंने स्त्रीभाव को तो प्रधानता दी है परन्तु स्वकीया को परकीया की अपेक्षा अधिक प्रश्रय दिया है और उसी भाव से कृष्ण के साथ घनिष्ठता का सम्बन्ध स्थापित किया है। कृष्ण के प्रति गोपियों का आकर्षण ऐन्द्रिय है, इसलिए उनकी प्रीति को सूर ने कामरूपा माना है। सूर की भक्ति का उद्देश्य भक्त को संसार के ऐन्द्रिय प्रलोभनों से बचाना है, यही कारण है कि उनकी भक्तिभावना स्त्रीभाव से ओतप्रोत है, जिसका प्रतिनिधित्व गोपियाँ करती हैं। वे कृष्ण में इतनी तल्लीन हैं कि उनकी कामरूपा प्रीति भी निष्काम है। इसीलिए संयोग-वियोग दोनों ही अवस्थाओं मे गोपियो का प्रेम एकरूप है। आत्मसमर्पण और अनन्यभाव मधुर-भक्ति के लिए आवश्यक हैं, जो सूरसागर की दानलीला, चीरहरण और रासलीला में पूर्णता को प्राप्त हुए हैं। सूर की दानलीला में मधुररति की परम परिणति कही गई है। मधुरभक्ति का जैसा वर्णन सूर ने किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। गोपियों के पूर्वराग से प्रारम्भ करके मधुरभक्ति का क्रमिक विकास सूर ने चित्रित किया है। पूर्वराग की अवस्था में गोपियो ने कुल-मर्यादा का अतिक्रमण किया है। इसके पश्चात् संयोगरति की पूर्ण अवस्था मिलन में दिखाई गई है।

वल्लभाचार्य ने विरह की अवस्था को प्रेमभक्ति के आध्यात्मिक साधन में बड़ा महत्त्व दिया है। सूर का विरह संयोग से भी अधिक उज्ज्वल और प्रबल है। मधुरभक्ति की आश्रयस्वरूपा गोपियाँ कृष्ण में इतनी तल्लीन हो जाती हैं कि उद्धव द्वारा प्रतिपादित ज्ञानयोग-साधन उन्हें निरर्थक प्रतीत होते हैं और वे उनका मज़ाक उड़ाती हैं। सूर ने ज्ञान, योग, यज्ञ, पूजा आदि की अपेक्षा माधुर्य-भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। गोपियों की इन्द्रियों के व्यापार कृष्ण की रूप-

हुए भी उस भाव में परिवर्त्तन अथवा विकार नहीं आने पाया। यशोदा के वात्सल्यभाव में हृदय का पूरा सयोग है।

मधुरा-भक्ति—

सूर के समकालीन रूपगोस्वामी ने मधुर भक्तिरस का विशद विवेचन किया है। केवल इसी रस का वर्णन करने के लिए उन्होंने 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक ग्रन्थ की रचना की। यद्यपि इस भक्ति को वल्लभ-सम्प्रदाय में स्थान मिला है तथापि इसका शास्त्रीय विवेचन उस समय नहीं हुआ था। विट्ठलनाथ जी के समय में इसे वडा महत्त्व मिला। सम्भवत. इसीलिए अष्टछाप के कवियों ने इसका क्रियात्मक स्वरूप विशेष रूप से दिखाया। अपने ग्रन्थ 'श्रृङ्गार-मण्डन' में विट्ठलनाथ जी ने इस भक्ति का प्रतिपादन किया है। युगल-उपासना का महत्त्व भी सम्प्रदाय में उन्हीं के समय से बढ़ा। माधुर्यभाव की भक्ति श्रृङ्गार प्रेम की भक्ति कही जा सकती है। लौकिक प्रेम के जितने स्वरूप हो सकते हैं, वे सभी मधुर भक्ति में आ जाते हैं, अन्तर केवल इतना है कि लोक से हटा कर उन्हें ईश्वर से जोड दिया जाता है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने भक्त के मन को ऐन्द्रिय विषयों से हटाने के लिए यह एक उत्तम साधन बताया है, इसीलिए मधुर भक्ति के सम्बन्धों में अच्छे बुरे का ध्यान नहीं रहता। सभी सम्बन्ध परमात्मा के साथ हो सकते हैं। लोक-पक्ष में जिसे हम श्रृङ्गार रस कहते हैं, भक्ति-पक्ष में वही मधुर रस कहलाता है। इनना अन्तर अवश्य है कि आलङ्कारिकों के मत से अनौचित्यपूर्ण रति में श्रृङ्गाराभास होता है, जबकि भक्ति रस में औचित्य अनौचित्य का कुछ विचार ही नहीं होता। उसमें स्वकीया के साथ परकीया भाव की रति भी है, एवं सयोग और वियोग दोनो पक्ष भी श्रृङ्गार रस की ही भाँति हो सकते हैं। इस भक्ति रस में कान्तारूपा प्रीति कामरूपा भी हो सकती है और सम्बन्धरूपा भी। सूरदास जी

की भक्ति भी ऐसी ही है। यही कारण है कि हम भक्त सूरदास की अन्तरात्मा का अन्तर्भाव राधा में देखते हैं। उन्होंने स्त्रीभाव को तो प्रधानता दी है परन्तु स्वकीया को परकीया की अपेक्षा अधिक प्रश्रय दिया है और उसी भाव से कृष्ण के साथ घनिष्ठता का सम्बन्ध स्थापित किया है। कृष्ण के प्रति गोपियों का आकर्षण ऐन्द्रिय है, इसलिए उनकी प्रीति को सूर ने कामरूपा माना है। सूर की भक्ति का उद्देश्य भक्त को संसार के ऐन्द्रिय प्रलोभनों से बचाना है, यही कारण है कि उनकी भक्तिभावना स्त्रीभाव से ओतप्रोत है, जिसका प्रतिनिधित्व गोपियाँ करती हैं। वे कृष्ण में इतनी तल्लीन हैं कि उनकी कामरूपा प्रीति भी निष्काम है। इसीलिए सयोग-वियोग दोनों ही अवस्थाओं में गोपियो का प्रेम एकरूप है। आत्मसमर्पण और अनन्यभाव मधुर-भक्ति के लिए आवश्यक हैं, जो सूरसागर की दानलीला, चीरहरण और रासलीला में पूर्णता को प्राप्त हुए हैं। सूर की दानलीला में मधुररति की परम परिणति कही गई है। मधुरभक्ति का जैसा वर्णन सूर ने किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। गोपियों के पूर्वराग से प्रारम्भ करके मधुरभक्ति का क्रमिक विकास सूर ने चित्रित किया है। पूर्वराग की अवस्था में गोपियो ने कुल-मर्यादा का अतिक्रमण किया है। इसके पश्चात् संयोगरति की पूर्ण अवस्था मिलन में दिखाई गई है।

वल्लभाचार्य ने विरह की अवस्था को प्रेमभक्ति के आध्यात्मिक साधन में बड़ा महत्त्व दिया है। सूर का विरह संयोग से भी अधिक उज्ज्वल और प्रबल है। मधुरभक्ति की आश्रयस्वरूपा गोपियाँ कृष्ण में इतनी तल्लीन हो जाती हैं कि उद्धव द्वारा प्रतिपादित ज्ञानयोग-साधन उन्हें निरर्थक प्रतीत होते हैं और वे उनका मज़ाक उड़ाती हैं। सूर ने ज्ञान, योग, यज्ञ, पूजा आदि की अपेक्षा माधुर्य-भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। गोपियों की इन्द्रियों के व्यापार कृष्ण की रूप-

माधुरी के आस्वादन और सरसलीला में लग चुके हैं, इसलिये सूर उन्हें विषयविमुख कर विरक्ति का उपदेश नहीं देते, प्रत्युत उसके महत्त्व का ही प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार माधुर्य की भक्ति का पूर्णतया निरूपण कर सूर ने कृष्ण के सयोग-वियोगात्मक श्रृङ्गाररस-रूप इष्टदेव की उपासना को ही प्राधान्य दिया। सूर की यह भक्तिभावना उनकी वैराग्य-समन्वित भक्तिभावना से नितान्त भिन्न है। इससे प्रमाणित होता है कि वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् उन्होंने अपना भक्तिविषयक दृष्टिकोण ही परिवर्तित कर दिया था।

सूर पर तत्कालीन वृन्दावन के सम्प्रदायों का भी प्रभाव पड़ा था। चैतन्य सम्प्रदाय के अतिरिक्त राधावल्लभीय और निम्बार्क सम्प्रदाय में भी युगलउपासना को महत्त्व दिया गया है। राधावल्लभीय सम्प्रदाय में तो राधा और कृष्ण की युगललीलाओं की उपासना सखीभाव से की जाती है। सूर ने युगल-मूर्ति के अनेक चित्र खींचे हैं।

आत्म-निवेदन—

आत्म-निवेदन माधुर्यभाव की अन्तिम सीढ़ी है। इसी का एक पक्ष शरणागति है। सूरदास जी की भक्तिसाधना में शरणागति का बड़ा महत्त्व है। विनय के पदों में इस प्रकार के अनेक पद हैं[1]। सूर ने श्याम के चरणों में आत्म-निवेदन किया है। यों तो उनकी आस्था अन्य लीलावतारों तथा देवों में भी थी किन्तु आत्म निवेदन उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रति ही किया है।

---

१ (i) शरण आए की प्रभु लाज धरिए, सूरसागर, पद ११०।
(ii) शरण गये कौ को न उबार्यौ, वही, पद, १४।
(iii) सरन परि मन वच कर्म विचारी, वही, पद ५५९।
(iv) सरन अब राखि लै नन्दताता, पद १४८२।
(v) सरन गये जो होइ सोइ।

उन्होंने विद्या, जाति, आदि सभी का अभिमान त्याग कर भगवान् को अनन्यभाव से भजा है। यही आत्मनिवेदन का शुद्ध स्वरूप है।

प्रेम-भक्ति—

'सूरदास जी की प्रेम-भक्ति माधुर्यभाव की भक्ति है और गोपियाँ उसका प्रतिनिधित्व करती हैं' यह हम पीछे कह आये हैं। इस प्रेम-भक्ति की प्राप्ति सूर ने नवधा-भक्ति द्वारा ही मानी है। वल्लभ-सम्प्रदाय में प्रेम-भक्ति की प्राप्ति का साधन हरिकृपा अथवा प्रभु-अनुग्रह बताया है। सूरसागर में प्रेम-भक्ति सम्बन्धी अनेक पद आये हैं। प्रेम-भक्ति की महिमा का बखान करते हुए वे कहते हैं—

"प्रेमभक्ति बिनु मुक्ति न होइ, नाथ कृपा करि दीजै सोइ।
और सकल हम देख्यौ जोइ, तुम्हारी कृपा होइ सो होइ[1]।"

वास्तव में प्रेम की बड़ी महत्ता है। प्रेम से ही ऐहिक और पारलौकिक कार्य सिद्ध होते हैं। इस प्रेम का मूल भी प्रेम ही है। प्रेम से ही प्रेम की उत्पत्ति होती है—

"प्रेम प्रेम ते होए प्रेम ते पारहिं पइये।
प्रेम बँध्यौ संसार प्रेम परमारथ लहिये।
एकै निश्चय प्रेम को जीवनमुक्ति रसाल।
साँचौ निश्चय प्रेम को जेहि तें मिलै गोपाल[2]।"

सूरदास जी ब्रजधाम के वास को ही प्रेमभक्ति का फल मानते हैं, जिसके प्राप्त होने पर भक्त को और कुछ प्राप्य नहीं रहता और न ही उसकी कोई अन्य कामना रहती है। उन्होंने इस लक्ष्य की ओर संकेत किया है। प्रेमी भक्त उस महान् वस्तु को प्राप्त कर लेने के पश्चात् और

१. सूरसागर, पद ४९१९।
२ सूरसागर (वेंकटेश्वर प्रेस) पृष्ठ ५६३।

किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता। इस भक्ति के प्राप्त होने पर सूर को भी समस्त संसार कृष्णमय दीख पड़ता था। उनकी गोपियाँ उद्धव जी से कहती हैं—"हमारे मन में कोई स्थान अवशिष्ट नहीं है। हमारे हृदय में, नन्द-नन्दन के होते हुए और किसको स्थान मिल सकता है? हमारा हृदय तो कृष्ण के प्रेम से लबालब भरा है[1]। मन दस-बीस तो होते नहीं, एक था सो वह श्याम के साथ चला गया। अब ईश की आराधना-योग की साधना—कौन से मन से की जाय? प्रेम की गति विचित्र होती है, वह किया नहीं जाता, हो जाता है। प्रिय के असाधारण गुणों पर ही रीझ कर प्रेम होता हो ऐसी बात भी नहीं है। उससे भी अधिक गुणवान् वस्तु हो सकती है पर वह प्रेमी के हृदय को नहीं लुभा सकती। संसार में कितनी ही सुन्दर और मधुर वस्तुएँ हो सकती हैं, पर जिस व्यक्ति को जो वस्तु अच्छी लगती है वही उसके लिये सुन्दर है—

"दधि मधुर मधु मधुर द्राक्षा मधुरा सिताऽपि मधुरैव।
तस्य तु तदेव मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्॥"

यही प्रेम की अनन्यता है जो सूर की गोपियों में देखी जाती है, तभी तो वे उद्धव से कहती हैं—

"ऊधौ मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँडि अमृत फल विषकीरा विष खात।
× × ×
सूरदास जाको मन जासों ताको सोह सुहात।"

नारद जैसे ज्ञानी भक्त भी व्रजबालाओं को प्रेमी भक्तों में शिरोमणि मानने के लिये विवश हैं क्योंकि उनका तन, मन, धन सब श्रीकृष्ण को अर्पित था और वे अहर्निश उन्हीं का चिन्तन करती थीं। उनका प्रेम

१ सूरसागर, पद ४३५०।

किसी भी वाद की झञ्झा में हिमालय की भाँति अटल रह सकता है। उद्धव के लाख बार समझाने पर भी प्रेममयी गोपियों का मानस स्नेहरस से पूर्ण लहराता रहा।

प्रेमभक्ति की प्राप्ति का मुख्य साधन हरिकृपा और सत्संग ही है। इसी लिये सूर ने स्थान-स्थान पर यही दुहराया है कि भगवान् के सभी अवतार उनकी भक्तवत्सलता और कृपा के प्रमाण हैं, उनकी कृपा के आगे सब तुच्छ है। जिस पर हरि कृपा करते हैं उसी की जीत होती है। किसी को व्यर्थ अभिमान नहीं करना चाहिये। रामावतार की कथा, कालिय-दमन, गोपियों के प्रति कृष्ण का प्रेम-प्रदर्शन, रासलीला, कुब्जा-उद्धार, सुदामा का दरिद्रय-दमन आदि प्रसंगों में हरि कृपा का वर्णन सूर ने किया है। भक्ति-पथ में साधन-स्वरूप सत्संगति की प्रशंसा और बाधक-रूप कुसंगति की निन्दा सूर ने स्थान-स्थान पर की है। भक्ति के अंगों में वे हरिस्मरण, गुरुसेवा, मधुवन-वास, भागवत-श्रवण और हरि-भक्त सेवा की गणना करते हैं। इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद का त्याग करने, सांसारिक विषयों से विरक्त रहने, हरिविमुखों का संग छोड़ने, सत्संग और हरिभजन करने आदि का उपदेश उनके पदों से प्राप्त होता है। सत्संग का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—जिस दिन संत पाहुने आते हैं उस दिन कोटि-तीर्थस्नान का फल उपलब्ध होता है। प्रतिदिन साधुओं की संगति में रहने से संसार के दु ख नष्ट हो जाते हैं और उनकी संगति से भगवत्प्रेम की उत्पत्ति होती है। उनकी प्रेमभक्ति साधना में अष्टाङ्गयोग व्यर्थ हैं, मनःकामना बाधक है, केवल सत्संगति का विशेष महत्त्व है। भगवान् कपिलदेव द्वारा देवहूति को यही उपदेश सूर ने दिलाया है कि—"नित्य संतों की संगति करनी चाहिये और पापकर्म को मन से त्याग देना चाहिये।"

नारद-भक्ति-सूत्र मे वर्णित प्रेमभक्ति के स्वरूप का पूर्ण विवेचन हमें

सूरसागर में मिलता है। महर्षि नारद ने सत्संगति के समान ही सदाचार को भी महत्त्व दिया है। सूरसागर में भी सदाचार की विशेषताओं का महत्त्व स्थान-स्थान पर प्रतिपादित किया गया है। नहुष, इन्द्र और अहिल्या की कथाओं तथा पुरूरवा के वैराग्य के प्रसङ्ग में नारी के कुसग को छोड़ कर हरि भक्ति की शिक्षा दी है। राजा अम्बरीष की कथा में भी सदाचार का महत्त्व स्वीकार किया गया है। गोपियों के सम्बन्ध में जो लोकलाज और कुलमर्यादा का उल्लंघन है वह कृष्ण के प्रति अनन्यता स्थापित करने के लिये है अन्यथा कवि ने स्थान-स्थान पर लोकव्यवहार और सदाचार की आवश्यकता बताई है। यही कारण है कि सूर ने परकीया भाव को इतना प्रश्रय नहीं दिया जितना स्वकीया भाव को। रासलीला में स्वयं युवतियों को, पति को भगवान् की तरह मानने का उपदेश दिया गया है। गोपियाँ तो सासारिकता से बहुत ऊँची उठ चुकी हैं। वे तो प्रेमभक्ति की चरमावस्था को पहुँच चुकी हैं, इस लिये सामान्य व्यवहार की दृष्टि से उनका विवेचन नहीं किया जा सकता। कवि का लक्ष्य तो उन्हें आत्मसमर्पण की अन्तिम कोटि तक ले जाना है, जो प्रेम-भक्ति का सर्वोच्च स्वरूप है। सूर की प्रेम-भक्ति अपने आप में पूर्ण है। गोपियों का विरह प्रेम की उसी पूर्णावस्था का प्रतीक है। वे उद्धव से कहती हैं—

"ऊधौ विरहौ प्रेम करै।
ज्यौं विनु पुट पट गहत न रंग कौं, रंग न रसहिं परै।
ज्यौं घर दहै बीज अकुर गिरि, तौ सत फरनि फरै।
ज्यौं घट अनल दहत तन अपनौ, पुनि पय अमी भरै।
ज्यौं रन सूर सहै सर सनमुख, तो रवि रथहु अरै।
'सूर' गुपाल प्रेम पथ चलि करि, क्यों दु ख सुखनि डरै।"

सूर की भक्ति में सामयिक प्रभाव और मौलिकता का भी पुट है। सामयिक प्रभाव के अतिरिक्त सूर की भक्ति में भक्ति के शताब्दियों से

चले आते हुए उस रूपका भी दर्शन होता है जो समाज में प्रचलित लोकगीतों और परम्पराओं में विद्यमान था। राधा और कृष्ण, कृष्ण और गोपियो की श्रृङ्गारिक चेष्टाओं के पीछे से भक्ति का वह स्वरूप झाँकता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। एक युगजीवी की भाँति सूर ने धार्मिक पक्ष में भी अपने युग का प्रतिनिधित्व किया है। उनकी भक्ति में जहाँ एक ओर विभिन्न वैष्णव-संप्रदायों के सिद्धान्तो का समावेश हुआ है वहाँ दूसरी ओर अन्य प्रचलित मत-मतान्तरों का भी प्रभाव पड़ता है।

सूर उच्च कोटि के भक्त थे। उनकी भक्ति अन्त.करण की प्रेरणा और हृदय की अनुभूति थी। भक्त होने के साथ-साथ वे कवि भी थे, इस लिये उनकी भक्ति में कविसुलभ कल्पना का योग भी स्वाभाविक ही था। विनोदी प्रकृति के होने के कारण हास्य और व्यङ्ग्य का पुट भी उनके भक्ति सम्बन्धी पदों में आ गया है और संगीत के प्रकाण्ड पाण्डित्य ने लय, स्वर, तान आदि का उचित ध्यान रख उनके पदों को गेय बना दिया। वे आशुकवि थे और संकीर्त्तनाचार्य भी।

भक्ति और साहित्य के उन्मुक्त वातावरण में सूर की कल्पना ने व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव के पंख खोल कर इतनी ऊँची और लम्बी उड़ान भरी है कि दर्शको को कभी-कभी तो यह आभास हो जाता है कि वह किसी अन्य लोक की यात्रा कर रही है, परन्तु सत्य यह है कि इतने ऊँचे पर उड़ते हुए भी उसकी दृष्टि सदैव धरा पर ही लगी रही है।

सूरसागर में मिलता है। महर्षि नारद ने सत्सगति के समान ही सदाचार को भी महत्त्व दिया है। सूरसागर में भी सदाचार की विशेषताओं का महत्त्व स्थान-स्थान पर प्रतिपादित किया गया है। नहुष, इन्द्र और अहिल्या की कथाओं तथा पुरुरवा के वैराग्य के प्रसङ्ग में नारी के कुसंग को छोड कर हरि भक्ति की शिक्षा दी है। राजा अम्बरीष की कथा में भी सदाचार का महत्त्व स्वीकार किया गया है। गोपियों के सम्बन्ध में जो लोकलाज और कुलमर्यादा का उल्लंघन है वह कृष्ण के प्रति अनन्यता स्थापित करने के लिये है अन्यथा कवि ने स्थान-स्थान पर लोकव्यवहार और सदाचार की आवश्यकता बताई है। यही कारण है कि सूर ने परकीया भाव को इतना प्रश्रय नहीं दिया जितना स्वकीया भाव को। रासलीला में स्वयं युवतियों को, पति को भगवान् की तरह मानने का उपदेश दिया गया है। गोपियाँ तो सासारिकता से बहुत ऊँची उठ चुकी हैं। वे तो प्रेमभक्ति की चरमावस्था को पहुँच चुकी हैं, इस लिये सामान्य व्यवहार की दृष्टि से उनका विवेचन नहीं किया जा सकता। कवि का लक्ष्य तो उन्हें आत्मसमर्पण की अन्तिम कोटि तक ले जाना है, जो प्रेम-भक्ति का सर्वोच्च स्वरूप है। सूर की प्रेम-भक्ति अपने आप में पूर्ण है। गोपियों का विरह प्रेम की उसी पूर्णावस्था का प्रतीक है। वे उद्धव से कहती हैं—

"ऊधौ विरहौ प्रेम करै।
ज्यौं विनु पुट पट गहत न रंग कौं, रंग न रसहिं परै।
ज्यौं घर दहै बीज अंकुर गिरि, तौ सत फरनि फरै।
ज्यौं घट अनल दहत तन अपनौ, पुनि पय अमी भरै।
ज्यौं रन सूर सहै सर सनमुख, तो रवि रथहु अरै।
'सूर' गुपाल प्रेम पथ चलि करि, क्यों दु ख सुखनि डरै।"

सूर की भक्ति में सामयिक प्रभाव और मौलिकता का भी पुट है। सामयिक प्रभाव के अतिरिक्त सूर की भक्ति में भक्ति के शताब्दियों से

चले आते हुए उस रूपका भी दर्शन होता है जो समाज में प्रचलित लोकगीतों और परम्पराओ में विद्यमान था। राधा और कृष्ण, कृष्ण और गोपियों की शृङ्गारिक चेष्टाओं के पीछे से भक्ति का वह स्वरूप झाँकता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। एक युगजीवी की भाँति सूर ने धार्मिक पक्ष में भी अपने युग का प्रतिनिधित्व किया है। उनकी भक्ति में जहाँ एक ओर विभिन्न वैष्णव-संप्रदायो के सिद्धान्तों का समावेश हुआ है वहाँ दूसरी ओर अन्य प्रचलित मत मतान्तरों का भी प्रभाव पड़ता है।

सूर उच्च कोटि के भक्त थे। उनकी भक्ति अन्तःकरण की प्रेरणा और हृदय की अनुभूति थी। भक्त होने के साथ-साथ वे कवि भी थे, इस लिये उनकी भक्ति में कविसुलभ कल्पना का योग भी स्वाभाविक ही था। विनोदी प्रकृति के होने के कारण हास्य और व्यङ्ग्य का पुट भी उनके भक्ति सम्बन्धी पदों में आ गया है और संगीत के प्रकाण्ड पाण्डित्य ने लय, स्वर, तान आदि का उचित ध्यान रख उनके पदो को गेय बना दिया। वे आशुकवि थे और संकीर्त्तनाचार्य भी।

भक्ति और साहित्य के उन्मुक्त वातावरण में सूर की कल्पना ने व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव के पंख खोल कर इतनी ऊँची और लम्बी उड़ान भरी है कि दर्शकों को कभी-कभी तो यह आभास हो जाता है कि वह किसी अन्य लोक की यात्रा कर रही है, परन्तु सत्य यह है कि इतने ऊँचे पर उड़ते हुए भी उसकी दृष्टि सदैव धरा पर ही लगी रही है।

सूरसागर में मिलता है। महर्षि नारद ने सत्संगति के समान ही सदाचार को भी महत्त्व दिया है। सूरसागर में भी सदाचार की विशेषताओं का महत्त्व स्थान-स्थान पर प्रतिपादित किया गया है। नहुष, इन्द्र और अहिल्या की कथाओं तथा पुरूरवा के वैराग्य के प्रसङ्ग में नारी के कुसंग को छोड़ कर हरि भक्ति की शिक्षा दी है। राजा अम्बरीष की कथा में भी सदाचार का महत्त्व स्वीकार किया गया है। गोपियों के सम्बन्ध में जो लोकलाज और कुलमर्यादा का उल्लंघन है वह कृष्ण के प्रति अनन्यता स्थापित करने के लिये है अन्यथा कवि ने स्थान-स्थान पर लोकव्यवहार और सदाचार की आवश्यकता बताई है। यही कारण है कि सूर ने पर-कीया भाव को इतना प्रश्रय नहीं दिया जितना स्वकीया भाव को। रास-लीला में स्वयं युवतियों को, पति को भगवान् की तरह मानने का उपदेश दिया गया है। गोपियाँ तो सांसारिकता से बहुत ऊँची उठ चुकी हैं। वे तो प्रेमभक्ति की चरमावस्था को पहुँच चुकी हैं, इस लिये सामान्य व्यवहार की दृष्टि से उनका विवेचन नहीं किया जा सकता। कवि का लक्ष्य तो उन्हें आत्मसमर्पण की अन्तिम कोटि तक ले जाना है, जो प्रेम-भक्ति का सर्वोच्च स्वरूप है। सूर की प्रेम-भक्ति अपने आप में पूर्ण है। गोपियों का विरह प्रेम की उसी पूर्णावस्था का प्रतीक है। वे उद्धव से कहती हैं—

"ऊधौ विरहौ प्रेम करै।
ज्यौं बिनु पुट पट गहत न रंग कौ, रंग न रसहिं परै।
ज्यौं घर दहै बीज अंकुर गिरि, तौ सत फरनि फरै।
ज्यौं घट अनल दहत तन अपनौ, पुनि पय अमी भरै।
ज्यौं रन सूर सहै सर सनमुख, तो रवि रथहु अरै।
'सूर' गुपाल प्रेम पथ चलि करि, क्यों दुख सुखनि डरै।"

सूर की भक्ति में सामयिक प्रभाव और मौलिकता का भी पुट है। सामयिक प्रभाव के अतिरिक्त सूर की भक्ति में भक्ति के शताब्दियों से

चले आते हुए उस रूपका भी दर्शन होता है जो समाज में प्रचलित लोकगीतों और परम्पराओ में विद्यमान था। राधा और कृष्ण, कृष्ण और गोपियों की श्रृङ्गारिक चेष्टाओं के पीछे से भक्ति का वह स्वरूप झाँकता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। एक युगजीवी की भाँति सूर ने धार्मिक पक्ष में भी अपने युग का प्रतिनिधित्व किया है। उनकी भक्ति में जहाँ एक ओर विभिन्न वैष्णव-संप्रदायो के सिद्धान्तो का समावेश हुआ है वहाँ दूसरी ओर अन्य प्रचलित मत-मतान्तरों का भी प्रभाव पड़ता है।

सूर उच्च कोटि के भक्त थे। उनकी भक्ति अन्त.करण की प्रेरणा और हृदय की अनुभूति थी। भक्त होने के साथ-साथ वे कवि भी थे, इस लिये उनकी भक्ति में कविसुलभ कल्पना का योग भी स्वाभाविक ही था। विनोदी प्रकृति के होने के कारण हास्य और व्यङ्ग्य का पुट भी उनके भक्ति सम्बन्धी पदों में आ गया है और संगीत के प्रकाण्ड पाण्डित्य ने लय, स्वर, तान आदि का उचित ध्यान रख उनके पदों को गेय बना दिया। वे आशुकवि थे और संकीर्त्तनाचार्य भी।

भक्ति और साहित्य के उन्मुक्त वातावरण में सूर की कल्पना ने व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव के पंख खोल कर इतनी ऊँची और लम्बी उड़ान भरी है कि दर्शकों को कभी-कभी तो यह आभास हो जाता है कि वह किसी अन्य लोक की यात्रा कर रही है, परन्तु सत्य यह है कि इतने ऊँचे पर उड़ते हुए भी उसकी दृष्टि सदैव धरा पर ही लगी रही है।

सप्तम अध्याय

सूरदास जी का दार्शनिक पक्ष

सूरदास जी तत्त्वत दार्शनिक नहीं थे। वे तो सन्त, भक्त और सिद्ध कवि थे उनका लक्ष्य दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना नहीं था। भगवान् की भक्ति में विभोर हुये उनके हृदय की तन्त्री से जो राग स्वत निर्गत हुये, उन्हीं का संकलन सूरसागर है, परन्तु महात्मा सूरदास एक विशेष सम्प्रदाय में दीक्षित थे और उसकी सेवा-पद्धति को उन्हों ने अपनाया था। यह सेवा-पद्धति उस सम्प्रदाय का आचरण पक्ष है, इसलिये उसके सिद्धान्त पक्ष से भी सूरदास जी अवश्य प्रभावित हुये होंगे। उन से पहली चार-पाच शताब्दिया उत्तरी भारत के धार्मिक आन्दोलन के इतिहास में विशेष महत्त्व रखती हैं। भारतीय शास्त्र में वह टीकाओं का युग कहा जाता है। सम्भत ये भारतीय सस्कृति को बचाये रखने के लिए टीकाकारों के प्रयत्न थे। बौद्ध-धर्म का नया रूप देश में उपस्थित हो चुका था। नाथपथी योगियों की निरञ्जनी शाखा और सूफियों के मेल से एक नई धारा निकल पड़ी थी, जो एक ओर तो योग मार्ग को पकडे हुए थी और दूसरी ओर प्रेम और भक्ति के तत्त्वों को अपनाये हुये थी। उधर दक्षिण भारत से उमडती हुई भक्ति-धारा ने सारे उत्तरी भारत को सराबोर करने का संकल्प सा कर लिया था। सामान्य रूप से शकर के अद्वैतवाद का प्रभाव सारे भारतवर्ष में व्यापक था। सूरदास जी के काव्य में इन सभी विविन्न धाराओं का प्रभाव लक्षित होता है किन्तु कवि सिद्धान्तों के बन्धनों में बँधने वाला नहीं होता। जब उसकी कल्पना उन्मुक्त क्षेत्र में अबाध गति से विचरण करने लगती है तो वह भावमय

हो जाता है और दार्शनिक सिद्धान्त जो कि बुद्धिगम्य होते हैं उस के मार्ग से बहुत दूर पड़ जाते हैं।

यों तो सूरसागर एक महान् सागर है और 'जिन खोजा तिन पायाँ' के अनुसार किसी भी वैष्णव-सम्प्रदाय का व्यक्ति अपनी हृदय-माला के रत्न उस में से खोज निकालता है, फिर भी उस में प्रचुरता वल्लभीय-सम्प्रदाय के सिद्धान्त-मुक्ताओं से मेल रखने वाले रत्नों की है। इसलिये हम वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के मेल में रख कर ही सूर के सिद्धांतों का विवेचन करेंगे।

वल्लभ-सम्प्रदाय की भाँति सूरदास के इष्ट श्रीकृष्ण रूप परब्रह्म हैं। जिस प्रकार श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने अनेक ग्रन्थों मे कृष्ण का नाम हरि लिखा है और उन्हें ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव से ऊपर बताया है उसी प्रकार सूरदास जी ने भी स्थान-स्थान पर हरि का स्मरण किया है। ब्रह्म का निरूपण सूरदास इस प्रकार करते हैं —

"शोभा अमित अपार अखण्डित आप आत्माराम।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुपोत्तम सब विधि पूरन काम॥
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प अहार।
ॐकार आदि वेद असुर हन निर्गुण सगुण अपार॥"

सूरदास जी ने वल्लभाचार्य जी की भाँति ब्रह्म, प्रकृति और पुरुष में अद्वैतता स्थापित की है और पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म और श्रीकृष्ण का एकीकरण किया है —

"सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत, विहरत युगल स्वरूप।
सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुप श्रीपति नारायन सब हैं अंश गोपाल।"

इस अंश और अंशी वाली बात को उन्हों ने कई बार दुहराया है। कृष्णरूप परब्रह्म की अद्वैतता और निर्गुणत्व का भी स्थान-स्थान पर प्रतिपादन किया है। ब्रह्मा को चतुश्लोकी ज्ञान देते हुए भगवान् कहते हैं —

पहले हौं ही हौं तब एक।
अमल अकल अज भेदविवर्जित सुनि विधि विमल विवेक।
सो हौं एक अनेक भाँति करि सोभित नाना भेष।
ता पाछे इन गुननि गये तैं, हौं रहिहौं अवसेष।

दशम स्कन्ध के प्रारम्भ में सूरदास जी ने परब्रह्म के रूप की विस्तृत व्याख्या की है और उस में भगवान् के तीनों रूप आ गये हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम रसरूप श्रीकृष्ण अक्षर ब्रह्म तथा अन्तर्यामी श्रीकृष्ण परब्रह्म का विरुद्ध-धर्माश्रयत्व भी उस में बताया गया है —

"आदि सनातन हरि अविनासी, सदा निरन्तर घट-घट वासी।
पूरन ब्रह्म पुरान बखानें, चतुरानन शिव अन्त न जानें।
गुन गन अगम निगम नहि पावै, ताहि जशोदा गोद खिलावै।"

सूरसागर में इस प्रकार के अनेक पद हैं जिन में परब्रह्म कृष्ण के अन्तर्यामी स्वरूप तथा निर्गुण स्वरूप का वर्णन है। भगवान् के विराट रूप का वर्णन करते हुये सूर कहते हैं "नेत्रों से श्याम का रूप देखो। वही अनूप रूप ज्योति रूप होकर घट-घट में व्याप्त हो रहा है। सप्त पाताल उसके चरण हैं, आकाश सिर है तथा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि सब में उसी का प्रकाश है। इसी प्रकार इस से अगले 'हरि जू की आरती' वाले पद में भी उनका विराट रूप बताया गया है।

सूर ने ब्रह्म के परमानन्द-स्वरूप सगुणत्व-विशिष्ट का भी वर्णन विस्तार से किया है। वे कहते हैं 'भगवान्' कृष्ण, जो अविगत आदि, अनन्त,

अनुपम, अलख और अविनाशी पुरुष हैं वे वृन्दावन में गपियों के मण्डल में नित्य लीला विहार करते हैं। वृन्दावन और ब्रज के आध्यात्मिक रहस्य की ओर सूरदास जी ने कई बार संकेत किया है। सूर ने कृष्ण को तीनों देवों से ऊँचा माना है और विष्णु का पूर्णावतार कहा है। विष्णु के अवतार होने की बात उन्होंने कई पदों में कही है। सूर के विनय सम्बन्धी पदों में भगवान् की भक्तवत्सलता और भक्त की दीनता विशेष रूप से प्रस्फुटित हुई है। प्रायः लीला सम्बन्धी पदों के पश्चात् सूरदास ने इस प्रकार के पद लिखे हैं जो भक्तवत्सलता-विषयक कहे जा सकते हैं। केवल इतना अन्तर है कि भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा व्रज-लीलाओं में प्रेम का रूप धारण कर लेती है। यही कारण है कि लीलाओं का वर्णन करता हुआ कवि लीला के सुख में स्वयं इतना तल्लीन हो जाता है कि भगवान् की कृपा का उसे इतना ध्यान नहीं रहता, जितना भागवतकार को। फिर भी कवि हरि-कृपा का स्मरण दिलाना भूला नहीं है। चीर-हरण, कालिय-दमन, गोवर्द्धन आदि लीलाओं में हरि-कृपा का संकेत किया गया है। स्थान-स्थान पर गोपियों ने भगवान् कृष्ण से कृपादृष्टि की याचना की है। कदाचित् भक्त-वत्सलता का वर्णन सूर ने भागवत के आधार पर किया है।

जीव—

सूर ने वल्लभ के अनुसार जीव को गुपाल (गोपाल) का अंश माना है और ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को स्वीकार किया है। ईश्वर के विषय में उन्होने जितने संकेत किये हैं, उतने जीव के विषय में नहीं। जीव को उन्होंने साधारण रूप से माया से आवृत माना है। जिस प्रकार वल्लभाचार्य जीवों की तीन श्रेणियाँ मानते हैं उस प्रकार का सैद्धान्तिक विवेचन सूर ने नहीं किया, फिर भी उनके काव्य में तीनों प्रकार के जीवों का संकेत अवश्य मिल जाता है। शुद्ध अवस्था वाले जीवों का वर्णन उन्होंने

भगवान् की नित्य लीला के सम्बन्ध में और ससारी जीवों का वर्णन विनय के पदों में किया है। अविद्या और माया को स्वरूप विस्मृति का कारण बताया है। यदि माया न हो तो ब्रह्म और जीव मे कोई अन्तर नहीं। माया के कारण जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है जैसा कि सूर के इस पद से प्रकट होता है—

"अपुनपौ आपुन ही विसरयौ।
जैसे स्वान काँच मंदिर में भ्रमि भ्रमि भूकि परयौ।
ज्यौं सौरभ मृग-नाभि बसत है द्रुम तृन सूँघि फिरयौ।
ज्यौं सपने में रंक भूप भयो, तसकर अरि पकरयौ।
ज्यौं केहरि प्रतिबिम्ब देखि कै, आपुन कूप परयौ।
जैसे गज लखि फटिकसिला में, दसननि जाइ अरयौ।
मर्कट मूँठि छोंडि नहिं दीनी, घर घर द्वार फिरयौ।
सूरदास नलिनी को सुवरा, कहि कौने पकरयौ॥"

संसारी जीवों की दुर्गति, भ्रम और अनेक प्रकार की आपत्तियों का वर्णन सूर ने बडे विस्तार के साथ किया है। भगवान् की कृपा से जब यह ससारी जीव माया से छुटकारा पा जाता है और उस में आनन्दांश का भी आविर्भाव हो जाता है तब वह मुक्त हो जाता है। यह आनन्द उसका अपना ही है, भ्रान्ति तथा माया के कारण वह उस से दूर पडा था। भ्रम दूर होने पर जीव को अपना ज्ञान हो जाता है—

"अपुनपौ आपुन ही मे पायौ।
सब्दहि सब्द भयो उजियारौ, सतगुरु भेद बतायौ।
ज्यों कुरग-नाभी कस्तूरी, ढूँढत फिरत भुलायौ।
फिर चितयौ जब चेतन ह्वै करि अपने ही तन छायौ।
राज-कुमारि कठमनि भूषन, भ्रम भयौ कहूँ गवायौ।

दियौ बताइ और सखियन तब, तनु को ताप नसायौ।
सपने माहिं नारि को भ्रम भयौ बालक कहूँ हिरायौ।
जागि लख्यौ, ज्यौं कौ त्यौं ही है, ना कहूँ गयौ न आयौ।
'सूरदास' समुझे की यह गति, मन ही मन मुसुकायौ।
कहि न जाइ या सुख की महिमा, ज्यौं गूँगे गुर खायौ।"

इन्हीं पदों को आधार मानकर सूर पर शंकर के मायावाद का प्रभाव भी बताया जाता है। इस विषय में दो बातें विचारणीय हैं—

१—सूरदास ने निश्चित सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया। उनका उद्देश्य भगवान् का गुणगान करना था। वैष्णव सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों का सूक्ष्म भेद प्रकट करने का न तो उन्हें अवसर ही था और न आवश्यकता ही थी। अतएव हमारी दृष्टि से ऐसी शंका उठाना ही असंगत है।

२—माया, अविद्या, जीव जगत् आदि से सम्बन्ध रखने वाले पद सूर ने उस समय बनाए थे, जब वे किसी सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं थे। साधारण जनता मे शंकर के मायावाद का जितना प्रचार रहा है, उतना किसी अन्य वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का नहीं। अतः बहुत सम्भव है कि सूरदास पर भी अप्रत्यक्षरूप से शंकर का प्रभाव रहा हो। सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् तो वे मनसा, वाचा, कर्मणा, गोविन्द के स्मरण मे ही कल्याण मानने लगे और मन को मिथ्या वाद-विवाद छोड़ने का निर्देश करने लगे। कहीं-कहीं सूर ने उन ज्ञानी जीवो की ओर भी संकेत किया है जो सदा एकरस रहते हैं तथा जो तन के भेद को वास्तविक नहीं समझते। उन्हें देह का अभिमान भी नहीं रहता, जबकि अज्ञानी जीव देह के धर्मों को अपना ही धर्म समझता है। गोस्वामी तुलसीदास जी की भाँति सूरदास जी भी संसार के सब क्रिया-कलापों का नियन्ता गोपाल ही को मानते हैं—

"कही गोपाल की सब होइ।
जो अपनौ पुरुषारथ मानत अति झूठौ है सोइ।"

जीव के सम्बन्ध में सूरदास ने भावी की प्रवलता स्वीकार की है और भावी को ही कर्म-गति माना है। तीनो लोक उसी के वश में हैं और उसी के अधीन होकर सुर और नर देह धारण करते हैं जीव के लिए वे भगवद्-भजन को ही कल्याणकारी मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"सूरदास भगवन्त भजन विन मिथ्या जनम गँवैये।"

जगत् और संसार—

वल्लभ-सम्प्रदाय में जगत् और ससार अलग-अलग हैं, जगत् सत्य है और ससार असत्य। सूरदास जी ने जहाँ जगत् को गोपाल का अंश वताया है वहाँ ससार का नाम नहीं लिया है और उसकी उत्पत्ति भी ब्रह्म से ही मानी है वे जगत् को मिथ्या मानने के लिए प्रस्तुत नहीं जिस जगत् में भगवान् का गुणगान करके जीव तरता है उसे कैसे मिथ्या माना जा सकता है। प्रभु का मर्म जान नहीं पडता, वे संसार का सृजन, पालन और सहार करते हैं और संहार के पश्चात् फिर सृजन में लग जाते हैं। सूरदास ससार को हरि की इच्छा का फल मानते हैं। उनका कहना है कि उनकी इच्छा से प्रकट हुआ यह ससार स्वय भी हरिरूप ही है, फिर भी इसे मायाकृत समझो। अतएव मन को सब स्थानों से खींच कर कृष्ण भगवान् में लगाओ। सूर के पदों से स्पष्ट झलक जाता है कि उन्होंने वल्लभाचार्य के अविकृत परिणामवाद को माना है क्योंकि जगत् की उपमा उन्होंने पानी के बुलबुले से दी है और आचार्य वल्लभ के समान ही ईश्वर को ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण माना है। सूरसारावली में सूरदास ने सृष्टि की रचना के विषय में भी लिखा है कि किस प्रकार

भगवान् के हृदय में सृष्टि-रचना की इच्छा उत्पन्न हुई और फिर माया के द्वारा काल-पुरुष के चित्त में किस प्रकार क्षोभ पैदा हुआ ? तदनन्तर सत्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों के मेल से प्रकृति और पुरुष के द्वारा सृष्टि का विस्तार हुआ। वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों के अनुसार सूरसारावली में २८ तत्त्व माने गये हैं, जिनका विवेचन सूरसागर में किया गया है—

"आदि निरंजन, निराकार कोउ हुतौ न दूसर।
रचौं सृष्टि-विस्तार, भई इच्छा एक औसर।
त्रिगुन प्रकृति तैं महत्तत्व, महत्तत्व तै अहंकार।
मन-इन्द्री, सब्दादि पंच, तातैं कियौ विस्तार।
सब्दादिक तैं पंचभूत सुन्दर प्रकटाये।
पुनि सब को रचि अंड आपु में आपु समाये।"

तीसरे स्कन्ध मे भी सृष्टि का क्रम बताया है। यह सृष्टि क्रम कपिल ने अपनी माता को बताया था। इस वर्णन में सूर वल्लभ-सम्प्रदाय से कुछ अलग प्रतीत होते हैं क्योंकि इसमें उन्होंने माया को त्रिगुणात्मिका मान-कर सत्व, रजस् और तमस् उसके गुण माने हैं और आगे चलकर माया का मिथ्यात्व सिद्ध किया है। सूरदास जी संसार को सेंभल के समान और जीव को संसार सेंभल के रूप पर मुग्ध शुक के समान मानते हैं। भेद खुलने पर जीव को पश्चाताप करना पड़ेगा। संसार का मिथ्यात्व उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रतिपादित किया है और जीव की अविद्या को उसके भ्रम का कारण बताकर बार-बार उसे चेतावनी दी है।

माया—

माया का वर्णन सूर के पदों में बड़े विस्तार के साथ मिलता है। वल्लभाचार्य जी ने निश्चित रूप से शङ्कराचार्य के मत से अपने मत को भिन्न रखा है और माया को सत्य तथा भ्रम दोनों ही प्रकार की बताया

है। वह स्वयं ब्रह्म की शक्ति स्वरूपा है और उस के दो स्वरूप विद्या और अविद्या हैं। शकर के मत से तो अविद्या का नाश होने पर जीव और जगत् दोनो की ही सत्ता का लोप हो जाता है। परन्तु वल्लभाचार्य के मत से अविद्या नाश होने पर भी दोनों की स्थिति रहती है, केवल ससार का नाश होता है। सूरदास माया को ईश्वर की ही शक्ति मानते हैं और उन्हों ने इस माया की करामात का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। यह माया नटी हाथ में लकुटी लेकर जीव को कोटिक नाच नचाती है और उसकी बुद्धि को भ्रम में डालती है। माया के बल से ही ईश्वर इस जगत् में विचित्रताओं को भर देता है। वास्तव में उसकी गति यह माया ही है। विनय के पदों में सूरदास ने माया का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। माया के चक्र में पड़ा हुआ भक्त हरि को भी विस्मृत कर देता है। केवल भक्ति द्वारा ही माया से छुटकारा सम्भव है। इस माया ने किस को नहीं बिगोया? नारद जैसे ज्ञानी, शङ्कर जैसे महादेव और ब्रह्मा जैसे सृष्टि-कर्त्ता भी इस माया के चक्कर में आ गये हैं। सूर इस माया को हरि की माया ही मानते हैं। इस प्रकार विनय के पदों में उन्होंने माया का अनिष्टकारी रूप प्रदर्शित किया है और माया का प्रभाव अत्यन्त व्यापक बताया है। उन के पदों में माया का मिथ्यात्व भी प्रतिपादित हुआ है। हम पहले यह बता चुके हैं कि उनके पदों को देख कर यह सदेह हो जाता है कि उन पर शङ्कराचार्य का प्रभाव था। सूर ने माया को मोहिनी, भुजङ्गिनी, नटिनी आदि नामों से कहा है। काम, क्रोध, मद, लोभ मोहादि इसी माया के रूप हैं। माया के विषय में सूर ने पर्याप्त मौलिकता दिखाई है उनकी माया वल्लभ और शङ्कर की माया का सम्मिश्रण सा प्रतीत होती है। सूर ने माया को अविद्या और तृष्णा बता कर अनेक रूपकों की योजना की है। अविद्या को गाय बताकर वे अपनी इस गाय को गोकुलपति के गोधन में मिलाना चाहते हैं। यह पापिनी अविद्या आशा के समान है, जो जीव को भरमाती रहती

है। तृष्णा भी उसी माया का स्वरूप है जिसका वर्णन सूर ने एक बड़े सुन्दर रूपक में किया है—

"माधौ, नैकु हटकौ गाइ।
भ्रमत निसि-वासर अपथ पथ, अगह गहि नहि जाइ।
छुधित अति न अघाति कबहूँ निगम द्रुम दल खाइ।
अष्ट दस घट नीर अँचवति तृषा तऊ न बुझाइ॥"

सारे सांसारिक सम्बन्ध माया से उत्पन्न हैं और माया मनुष्य को उन सम्बन्धों के बन्धन में डाल देती है। सूर के लिये माया और अज्ञान एक ही हैं। इसी अज्ञान-तिमिर में पड़ कर मनुष्य अपने उद्देश्य को भूल जाता है। माया के कारण करुणामय की सेवा को छोड़ कर मन मोह में पड़ जाता है और निकट रहने पर भी कस्तूरी वाले मृग के समान जान नहीं पाता। सूर ने माया को भगवान् की वह शक्ति माना है, जिस के कारण यह मिथ्या संसार सत्य सा प्रतीत होता है। तृतीय स्कन्ध के ३८०वें पद में कपिल ने हरिमाया का रूप समझाया है। और भागवत के अनुसार त्रिगुणात्मिका जड प्रकृति को ही माया बताया है। माया और जीव में इतना ही अन्तर है कि माया चैतन्य-रहित है और जीव चैतन्य सहित। माया का वर्णन सूरसागर में स्थान-स्थान पर मिलता है। दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में ब्रह्मा द्वारा बालवत्सहरण लीला में कृष्ण ने अपनी माया का रूप बताया है। अन्त में ब्रह्मा इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तव में यह ससार मिथ्या है और भगवान् की माया के कारण ही सत्य प्रतीत होता है। ब्रह्मा की स्तुति में माया के रूप को और भी स्पष्ट किया गया है। ब्रह्म कहते हैं—"यह संसार माया और देह मिथ्या हैं, फिर हे हरि बताओ हम तुम्हें क्यो भूल गये?" इत्यादि। कृष्ण भी ब्रह्मा से कहते—"मेरी माया अत्यन्त अगम्य

है। इसका पार कोई नही पा सकता।" माया वास्तव में ब्रह्म की मोहक शक्ति है जिसको योगमाया कहा गया है। इस योगमाया का वर्णन भी सूर ने किया है।

यद्यपि सूर ने अनेक प्रकार से माया का वर्णन किया है तथापि माया के विषय में उनके ऊपर पुष्टिमार्ग का ही प्रभाव था क्योंकि दशम स्कन्ध में राधा एवं अन्य गोपियों को कृष्ण के द्वारा मायाजन्य सांसारिक सम्बन्धों का आदर करने का आदेश दिलाया गया है।

मोक्ष—

पीछे उल्लेख हो चुका है कि सूरदास ने पुष्टि-सम्प्रदाय के अनुसार ही जीवों की कोटियाँ मानी हैं। भक्ति मार्ग के पथिक वास्तव में उसी भक्त को मुक्त मानते हैं जो निर्गुण मुक्ति को न चाह कर भगवान् के दर्शन से सुखी होता है। सूरदास की भक्ति स्वत पूर्ण है जिस के प्राप्त होने पर कोई इच्छा नहीं रह जाती। तभी तो वे कहते हैं—"हे भगवन्! मुझे अपनी भक्ति दो। चाहे आप करोड़ों लालच दिखावें लेकिन मुझे अन्य किसी बात की रुचि नहीं हो सकती।" सूर ने कई स्थानों पर भक्ति का फल बताया है और कई भक्तों को वैकुण्ठ-धाम की प्राप्ति कराई है जिस में भक्त जल में कमल के समान हर्ष शोक से दूर रह कर जीवन-मुक्त हो जाते हैं। कपिल ने भक्ति का फल हरि-पद की प्राप्ति और हरिपुर का वास बताया है। अधिकतर हरिभक्तों को हरिपुरवास ही प्राप्त हुआ है। ध्रुव की कथा में भक्ति का फल वैकुण्ठ-निवास बताया गया है। इसी प्रकार शुकदेव, अजामिल राजा पुरुरवा इत्यादि की कथाओं के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। सूरदास ने कहीं मुक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन' नहीं किया है। राजा पुरुरवा के वैराग्य-वर्णन में निर्वाण-पद का उल्लेख है। इसी प्रकार सौभरि ऋषि की कथा में भगवान् का भजन करने वाले के लिए

मुक्ति सुलभ बताई है। जीवन-मुक्त अवस्था प्राप्त करने की ओर सूर ने अनेक संकेत किये हैं, सारा भ्रमरगीत इस प्रकार के संकेतों से भरा पड़ा है। सालोक, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्तियों का सैद्धान्तिक रूप तो सूरसागर में नहीं है, परन्तु इन चारों मुक्तियों की अनुभूति सूर ने पूर्णरूप से की है, इसमें कोई संदेह नहीं है। पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के लीलाधाम में पहुँचने की इच्छा सूर के कई पदों से प्रकट होती है और उस भगवत् धाम का स्वरूप भी सूरदास ने बताया है। भगवान् के लीला-धाम में पहुँचना ही सालोक मुक्ति है। उनके चरणारविन्द का सान्निध्य सामीप्य मुक्ति कहलाता है, कृष्ण के साथ उन्हीं के समान आचरण करना सारूप्य मुक्ति है तथा ईश्वर के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाना सायुज्य मुक्ति है। जब भक्त रसरूप भगवान् का अंग हो जाता है तब सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति समझनी चाहिए। वल्लभाचार्य की भाँति सूर ने भी सायुज्य मुक्ति को ही प्राधान्य दिया है। भगवान् के नित्य-रास का वर्णन सायुज्य मुक्ति का ही रूप है। सायुज्य मुक्ति के भी दो रूप हैं—संसार के दुःख से मुक्ति और नित्य सुख की प्राप्ति। इन दोनों अवस्थाओं में जीव में भगवान् का अंग नहीं बनता। लयात्मक सायुज्य मुक्ति में जीव ईश्वर का अंग हो जाता है। शृंगार रस के संयोग और विप्रयोगात्मक दोनों ही रूप हैं। सूर ने एक का वर्णन रासलीला में और दूसरे का भ्रमरगीत में किया है। अपनी आत्मानुभूति को प्रकट करते हुए वे लिखते हैं—

> "नमो नमो हे कृपानिधान।
> चितवत कृपा कटाक्ष तुम्हारे मिटि गयौ तम अज्ञान।
> मोह निसा को लेस रह्यौ नहि, भयौ विवेक विहान।
> आतमरूप सकल घट दरस्यौ, उदय कियौ रवि ज्ञान।
> मैं मेरी अब रही न मेरै, छुट्यौ देह अभिमान।

भावे परयौ आजु ही यह तन, भावै रहो अमान।
मेरे जिय अब यहै लालसा, लीला श्रीभगवान्।
स्रवन करौं निसि वासर हित सौं, सूर तुम्हारी आन।"

इस पद से सूर ने यही इच्छा प्रकट की है कि मैं सदा भगवान् की लीला का ही श्रवण करता रहूँ। यही उनके लिए सबसे बड़ा सुख है जैसा कि उन्होंने निम्नलिखित पद में प्रकट किया है—

"जो सुख होत गुणपालहिं गायें।
सो सुख होत न जप तप कीन्हे कोटिक तीरथ न्हायें।
दियें लेत नहिं चारि पदारथ, चरन कमल चित लाएँ।
तीन लोक तृन सम करि लेखत नन्दनन्दन उर आवें।
वशीवट वृन्दावन जमुना तजि वैकुण्ठ न जावै।
'सूरदास' हरि कौ सुमिरन करि बहुरि न भव जल आवै।"

इसी अवस्था को भजनानन्द में मग्न होना कहते हैं जिसको सम्प्रदाय में स्वरूपानन्द मुक्ति कहा गया है।

लयात्मक सायुज्य मुक्ति के तीनों रूप हमें सूर में दिखाई देते हैं। वे कृष्ण के अक्षरधाम वृन्दावन का अंग बनकर उस आनन्द का अनुभव करना चाहते हैं। उनके साथ अनेक देवताओं ने भी इस प्रकार की प्रार्थनाएँ की हैं। एक स्थान पर सूर वृन्दावन की 'रेण्ड' ही बनने की कामना करते हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'रसखान' ने भी इस प्रकार की इच्छा प्रकट की है। दूसरे प्रकार की लयात्मक मुक्ति का वर्णन गोपियों के विरह में हुआ है। वहाँ भी सूर ने भक्त-स्वरूपा गोपियों का कृष्ण के साथ एकीकरण दिखाया है। गोपियों को आत्म-विस्मृति हो गई है और वे कृष्ण में पूर्णतया तल्लीन हो जाती हैं। तभी तो किसी किसी गोपी

के मुख से 'दह्नी लेहुरी' के स्थान में "गोपाल लेहुरी" निकल जाता है। प्रवेशात्मक सायुज्य मुक्ति का स्वरूप सूर ने नित्यरास के वर्णन में बड़े विस्तार से उपस्थित किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि सूर ने सैद्धान्तिक रूप से मुक्तिभेद का वर्णन नहीं किया तथापि क्रियात्मक रूप से उन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार सब प्रकार की गोपियों का स्वरूप अपने काव्य में खड़ा किया है। 'गोपी-उद्धव-सम्वाद' के अन्त में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

"ऊधौ सूधें नैक निहारौ।
हम अवलनि को सिखवत आये, सुन्यो सयान तिहारौ।
निरगुन कहौ कहा कहियत है तुम निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौ मुक्ति रही हमचारी।
हम सालोक्य, सरूप, सायुज्यौ रहति समीप सदाई।
सो तजि कहत और की औरै तुम अलि वड़े अदाई।
हम मूरख तुम वड़े चतुर हौ वहुत कहा अब कहिए।
वे ही काज फिरत भटकत कत, अब मारग निज गहिये।
तुम अज्ञान कतहि उपदेसत, ज्ञान रूप हम हीं।
निसिदिन ध्यान सूर प्रभु को अलि देखत जित तितहीं।"

सूर की गोपियाँ विरहासक्ति में चारों प्रकार की मुक्ति का आनन्द ले रही हैं। वे कृष्णमयी हो चुकी हैं और अपने आपको ज्ञान-रूप मानती हैं। जिधर भी वे देखती हैं उधर कृष्ण का स्वरूप दीख पड़ता है। यह प्रवेशात्मक और लयात्मक दोनों प्रकार की सायुज्य मुक्ति की चरमसीमा है। इसी जीवन-मुक्त अवस्था को सूर ने सर्वश्रेष्ठ बताया है। सूर उच्चकोटि के भावुक कवि थे। ईश्वर का लीलाधाम, श्रवण, सेवा, संगति आदि अवस्थाओं में सूर जिस आनन्द का अनुभव करते हैं, वह

किसी मुक्ति में दुर्लभ है। उस आनन्द को सूरदास जी ने बड़े-बड़े मुनियों के लिए स्पृहणीय माना है। वेद, उपनिषदादि धर्म-ग्रन्थों में जिस परमधाम का वर्णन है वह सूरदास जी का लीलाधाम है, उनका भजनानन्द ब्रह्मानन्द से बढ़कर है।

भागवत की भाँति सूरदास में भी अध्यात्म-पक्ष की झलक मिलती है। वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार सूरदास ने व्रज, वृन्दावन, गोकुल को नित्य-लीलाधाम गोलोक का अवतरित रूप माना है और स्थान-स्थान पर व्रजधाम की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। ब्रह्मा ने व्रज वृन्दावन की महिमा "वत्सहरणलीला' के समय गाई है। सूर कहते हैं कि, 'व्रज की लीला को देखकर विधि का ज्ञान भी नष्ट हो गया, व्रज की गोपियाँ धन्य हैं, ग्वाले धन्य हैं, वे बछड़े और गौयें धन्य हैं। इस व्रजलीला का पार शारदा भी नहीं पा सकती।" इस वृन्दावन की रज भी प्रशंसनीय है जहाँ कृष्ण ने धेनुओं को चराया और अपने अधरों से वेणुवादन किया। अरे मन ! इस स्थान का क्या कहना यहाँ तो पुरातन पूर्णपुरुष श्रीकृष्ण स्वयं निवास करते हैं। इस धाम में कुछ लेना देना नहीं है, केवल मनमोहन के ध्यान में ही सब आनन्द है। यहाँ की समता कल्पवृक्ष और कामधेनु भी नहीं कर सकते। इसीलिये तो ब्रह्मा के रूप में सूर ने व्रज की रेणु होने की कामना प्रकट की है।

सूर का वृन्दावन नारायण के वैकुण्ठ से भी बढ़कर है। वृन्दावन से मुरली की ध्वनि जब वैकुण्ठ पहुँची तो नारायण और कमला दोनों के हृदय में उसके प्रति बड़ी रुचि उत्पन्न हुई और वे भी व्रजवासियों के भाग्य को सराहने लगे।

"मुरली धुनि वैकुण्ठ गई।
नारायण कमला सुनि दम्पति, अति रुचि हृदय भई।

सुनो प्रिया यह वानी अद्भुत, वृन्दावन हरि देखौ।
'धन्य धन्य' श्रीपति मुख कहि कहि जीवन व्रज को लेखौ।
रास विलास करत नन्दनन्दन सो हमतें अति दूरि।
धनि वन धाम धन्य व्रजधरनी उड़ि लागै जो धूरि।
वह सुख तिहूँ भुवन में नाहीं जो हरि संग पल एक।
'सूर' निरखि नारायण इक टक भूले नैन निमेस॥"

सूर ने व्रजधाम और वृन्दावन को लौकिक और अलौकिक दोनों ही रूप दिये हैं और पूर्णतया वल्लभ-सम्प्रदाय का अनुकरण किया है।

रास—

वृन्दावन की भाँति सूर ने 'रास' को भी आध्यात्मिक पक्ष प्रदान किया है और रास का विशद् वर्णन किया है। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण, विष्णु-पुराण, हरिवंश तथा पुराण में तो रास का वर्णन हुआ ही है, चैतन्य-सम्प्रदाय के गोस्वामी वर्ग ने भी उसका आध्यात्मिक रूप बड़े विस्तार से प्रतिपादित किया है। 'उज्ज्वल नीलमणि' में कृष्ण विषयक श्रृंगार रस का बड़ा विस्तार है और मधुर अथवा भक्ति रस की श्रेष्ठता का तर्क-पूर्ण प्रतिपादन हुआ है। जहाँ तक 'रास' का प्रश्न है, सूर की रास-लीला 'रास पंचाध्यायी' को आधार मान कर लिखी गई है, किन्तु उसमें सूर की मौलिकता भी है और वर्गीय प्रभाव भी। भागवत् में राधा का उल्लेख नहीं है। वंगीय वैष्णव शाखा में परकीया भाव को प्राधान्य दिया गया है, ज़ब कि वल्लभ-सम्प्रदाय वालों ने स्वकीया भाव को अपनाया है किन्तु इस लीला पर वंगीय प्रभाव अवश्य मानना पड़ेगा। 'श्रीमद्भागवत' में तो स्वकीया, परकीया का भाव उपस्थित ही नहीं होता, क्योंकि भागवत्कार ने प्रारम्भ से अन्त तक रास में आध्यात्मिकता का निर्वाह किया है। श्रीकृष्ण को परम पुरषोत्तम परमात्मा स्वीकार कर

लेने पर स्वकीया और परकीया का प्रश्न ही असम्भव है, क्योंकि यह सब कुछ उनका अपना ही विलास है और उनकी ही अगभूता अन्तरग शक्ति। रास-लील तथा उसमें प्रवेश करना सूर का चरम-लक्ष्य है। उसी स्थिति को उन्होंने सबसे बड़ी मुक्ति माना है। वेद, सुर, नर, मुनि, शिव आदि इस रास रस की अंशकला को भी प्राप्त नहीं कर सकते। रास-रस का वर्णन सूर अपनी शक्ति से बाहर की वस्तु समझते हैं। रास का प्रभाव सार्वत्रिक एव सार्वभौतिक है, उसके प्रभाव से यमुना भी उलटी बहने लगती है, सुर, नर और मुनियों का ध्यान टूट जाता है और चन्द्रमा भी आत्मविभोर होकर आकाश में अपना मार्ग भूल जाता है। हम पहले कह चुके हैं कि सूर ने रास-वर्णन भागवत् के आधार पर ही किया है और उसी के आधार पर रास के शृंगारपरक भावों को परमब्रह्म कृष्ण के ससर्ग के कारण निर्दोष ठहराया है। सूरसागर में मुरली की ध्वनि सुनकर, गोपियों का आकुल होकर कुल-मर्यादा गृह-व्यापार आदि को तिलाञ्जलि देकर कृष्ण के समीप दौड़ जाना तथा बाद में कृष्ण द्वारा उन्हें उपदेश देना भागवत् के अनुसार ही ह। भागवत् पर आधारित होने पर भी सूर के रास-वर्णन में पर्याप्त मौलिकता है उसमें लौकिक और आध्यात्मिक भावों का सुन्दर सामंजस्य है। आध्यात्मिक रूप में कृष्ण घन हैं एवं गोपियाँ दामिनीस्वरूपा तथा भौतिक पक्ष में कृष्ण नायक और गोपियाँ नायिकायें। यह रास शाश्वत है —

> वृन्दावन हरि यहि विधि क्रीड़त सदा राधिका सग।
> भोर निशा कबहू नहि जानत सदा रहत एक रग।

तथा

> नित्यधाम वृन्दावन श्याम, नित्यरूप राधा व्रजवाम।
> नित्यरास जल नित्यविहार, नित्यमान खण्डिताभिसार।

हो जाता है और दार्शनिक सिद्धान्त जो कि बुद्धिगम्य होते हैं उस के मार्ग से बहुत दूर पड़ जाते हैं।

यों तो सूरसागर एक महान् सागर है और 'जिन खोजा तिन पायाँ' के अनुसार किसी भी वैष्णव-सम्प्रदाय का व्यक्ति अपनी हृदय-माला के रत्न उस में से खोज निकालता है, फिर भी उस मे प्रचुरता वल्लभीय-सम्प्रदाय के सिद्धान्त-मुक्ताओं से मेल रखने वाले रत्नों की है। इसलिये हम वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के मेल में रख कर ही सूर के सिद्धांतों का विवेचन करेंगे।

वल्लभ-सम्प्रदाय की भाँति सूरदास के इष्ट श्रीकृष्ण रूप परब्रह्म हैं। जिस प्रकार श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने अनेक ग्रन्थों मे कृष्ण का नाम हरि लिखा है और उन्हें ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव से ऊपर बताया है उसी प्रकार सूरदास जी ने भी स्थान-स्थान पर हरि का स्मरण किया है। ब्रह्म का निरूपण सूरदास इस प्रकार करते हैं —

"शोभा अमित अपार अखण्डित आप आतमाराम।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम॥
आदि सनातन एक अनूपम अवगत अल्प अहार।
ऊँकार आदि वेद असुर हन निर्गुण सगुण अपार॥"

सूरदास जी ने वल्लभाचार्य जी की भाँति ब्रह्म, प्रकृति और पुरुष में अद्वैतता स्थापित की है और पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म और श्रीकृष्ण का एकीकरण किया है —

"सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत, विहरत युगल स्वरूप।
सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सब हैं अंश गोपाल।"

इस अंश और अंशी वाली बात को उन्हों ने कई बार दुहराया है। कृष्णरूप परब्रह्म की अद्वैतता और निर्गुणत्व का भी स्थान-स्थान पर प्रतिपादन किया है। ब्रह्मा को चतुश्लोकी ज्ञान देते हुए भगवान् कहते हैं :—

पहले हौं ही हो तब एक।
अमल अकल अज भेदविवर्जित सुनि विधि विमल विवेक।
सो हौं एक अनेक भाँति करि सोभित नाना भेष।
ता पाछे इन गुननि गये ते, हौं रहिहौं अवसेष।

दशम स्कन्ध के प्रारम्भ में सूरदास जी ने परब्रह्म के रूप की विस्तृत व्याख्या की है और उस में भगवान् के तीनों रूप आ गये हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम रसरूप श्रीकृष्ण अक्षर ब्रह्म तथा अन्तर्यामी श्रीकृष्ण परब्रह्म का विरुद्ध-धर्माश्रयत्व भी उस में बताया गया है —

"आदि सनातन हरि अविनासी, सदा निरन्तर घट-घट वासी।
पूरन ब्रह्म पुरान बखानें, चतुरानन शिव अन्त न जानें।
गुन गन अगम निगम नहि पावै, ताहि जशोदा गोद खिलावै।"

सूरसागर में इस प्रकार के अनेक पद हैं जिन में परब्रह्म कृष्ण के अन्तर्यामी स्वरूप तथा निर्गुण स्वरूप का वर्णन है। भगवान् के विराट रूप का वर्णन करते हुये सूर कहते हैं "नेत्रों से श्याम का रूप देखो। वही अनूप रूप ज्योति रूप होकर घट-घट में व्याप्त हो रहा है। सप्त पाताल उसके चरण हैं, आकाश सिर है तथा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि सब में उसी का प्रकाश है। इसी प्रकार इस से अगले 'हरि जू की आरती' वाले पद में भी उनका विराट रूप बताया गया है।

सूर ने ब्रह्म के परमानन्द-स्वरूप सगुणत्व-विशिष्ट का भी वर्णन विस्तार से किया है। वे कहते हैं 'भगवान्' कृष्ण, जो अविगत आदि, अनन्त,

अनुपम, अलख और अविनाशी पुरुष हैं वे वृन्दावन में गपियों के मण्डल में नित्य लीला विहार करते हैं। वृन्दावन और व्रज के आध्यात्मिक रहस्य की ओर सूरदास जी ने कई बार संकेत किया है। सूर ने कृष्ण को तीनों देवों से ऊँचा माना है और विष्णु का पूर्णावतार कहा है। विष्णु के अवतार होने की बात उन्होंने कई पदों में कही है। सूर के विनय सम्बन्धी पदों में भगवान् की भक्तवत्सलता और भक्त की दीनता विशेष रूप से प्रस्फुटित हुई है। प्रायः लीला सम्बन्धी पदों के पश्चात् सूरदास ने इस प्रकार के पद लिखे हैं जो भक्तवत्सलता-विषयक कहे जा सकते हैं। केवल इतना अन्तर है कि भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा व्रज-लीलाओं में प्रेम का रूप धारण कर लेती है। यही कारण है कि लीलाओं का वर्णन करता हुआ कवि लीला के सुख में स्वयं इतना तल्लीन हो जाता है कि भगवान् की कृपा का उसे इतना ध्यान नहीं रहता, जितना भागवत-कार को। फिर भी कवि हरि-कृपा का स्मरण दिलाना भूला नहीं है। चीर-हरण, कालिय-दमन, गोवर्द्धन आदि लीलाओं में हरि-कृपा का संकेत किया गया है। स्थान-स्थान पर गोपियों ने भगवान् कृष्ण से कृपादृष्टि की याचना की है। कदाचित् भक्त-वत्सलता का वर्णन सूर ने भागवत के आधार पर किया है।

जीव—

सूर ने वल्लभ के अनुसार जीव को गुपाल (गोपाल) का अंश माना है और ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को स्वीकार किया है। ईश्वर के विषय मे उन्होंने जितने संकेत किये हैं, उतने जीव के विषय में नहीं। जीव को उन्होंने साधारण रूप से माया से आवृत माना है। जिस प्रकार वल्लभाचार्य जीवों की तीन श्रेणियाँ मानते हैं उस प्रकार का सैद्धान्तिक विवेचन सूर ने नहीं किया, फिर भी उनके काव्य में तीनों प्रकार के जीवों का संकेत अवश्य मिल जाता है। शुद्ध अवस्था वाले जीवों का वर्णन उन्होने

भगवान् की नित्य लीला के सम्बन्ध में और ससारी जीवों का वर्णन विनय के पदों में किया है। अविद्या और माया को स्वरूप विस्मृति का कारण बताया है। यदि माया न हो तो ब्रह्म और जीव में कोई अन्तर नहीं। माया के कारण जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है जैसा कि सूर के इस पद से प्रकट होता है—

"अपुनपौ आपुन ही विसरयौ।
जैसे स्वान काँच मंदिर में भ्रमि भ्रमि भूकि परयौ।
ज्यौं सौरभ मृग-नाभि बसत है द्रुम तृन सूँघि फिरयौ।
ज्यौं सपने में रंक भूप भयो, तसकर अरि पकरयौ।
ज्यौं केहरि प्रतिबिम्ब देखि कै, आपुन कूप परयौ।
जैसे गज लखि फटिकसिला में, दसननि जाइ अरयौ।
मर्कट मूँठि छाँडि नहिं दीनी, घर घर द्वार फिरयौ।
सूरदास नलिनी को सुवरा, कहि कौने पकरयौ॥"

ससारी जीवों की दुर्गति, भ्रम और अनेक प्रकार की आपत्तियों का वर्णन सूर ने बडे विस्तार के साथ किया है। भगवान् की कृपा से जब यह संसारी जीव माया से छुटकारा पा जाता है और उस में आनन्दांश का भी आविर्भाव हो जाता है तब वह मुक्त हो जाता है। यह आनन्द उसका अपना ही है, भ्रान्ति तथा माया के कारण वह उस से दूर पडा था। भ्रम दूर होने पर जीव को अपना ज्ञान हो जाता है—

"अपुनपौ आपुन ही मै पायौ।
सब्दहि सब्द भयो उजियारौ, सतगुरु भेद बतायौ।
ज्यौं कुरग-नाभी कस्तूरी, ढूँढत फिरत भुलायौ।
फिरि चितयौ जब चेतन ह्वै करि अपने ही तन घायौ।
राज-कुमारि कठमनि भूषन, भ्रम भयौ कहूँ गवायौ।

दियौ वताइ और सखियन तव, तनु को ताप नसायौ।
सपने माहिं नारि को भ्रम भयौ वालक कहूँ हिरायौ।
जागि लख्यौ, ज्यौं कौ त्यों ही है, ना कहूँ गयौ न आयौ।
'सूरदास' समुझे की यह गति, मन ही मन मुसुकायौ।
कहि न जाइ या सुख की महिमा, ज्यौं गूँगे गुर खायौ।"

इन्हीं पदों को आधार मानकर सूर पर शंकर के मायावाद का प्रभाव भी वताया जाता है। इस विषय में दो वातें विचारणीय हैं—

१—सूरदास ने निश्चित सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया। उनका उद्देश्य भगवान् का गुणगान करना था। वैष्णव सम्प्रदायो के दार्शनिक सिद्धान्तों का सूक्ष्म भेद प्रकट करने का न तो उन्हे अवसर ही था और न आवश्यकता ही थी। अतएव हमारी दृष्टि से ऐसी शंका उठाना ही असंगत है।

२—माया, अविद्या, जीव जगत् आदि से सम्बन्ध रखने वाले पद सूर ने उस समय वनाए थे, जब वे किसी सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं थे। साधारण जनता में शंकर के मायावाद का जितना प्रचार रहा है, उतना किसी अन्य वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का नहीं। अतः वहुत सम्भव है कि सूरदास पर भी अप्रत्यक्षरूप से शंकर का प्रभाव रहा हो। सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् तो वे मनसा, वाचा, कर्मणा, गोविन्द के स्मरण में ही कल्याण मानने लगे और मन को मिथ्या वाद-विवाद छोड़ने का निर्देश करने लगे। कहीं-कहीं सूर ने उन ज्ञानी जीवों की ओर भी संकेत किया है जो सदा एकरस रहते हैं तथा जो तन के भेद को वास्तविक नहीं समझते। उन्हें देह का अभिमान भी नहीं रहता, जबकि अज्ञानी जीव देह के धर्मों को अपना ही धर्म समझता है। गोस्वामी तुलसीदास जी की भाँति सूरदास जी भी संसार के सव क्रिया-कलापो का नियन्ता गोपाल ही को मानते हैं—

"कही गोपाल की सब होइ।
जो अपनी पुरुषारथ मानत अति भूठौ है सोइ।"

जीव के सम्बन्ध में सूरदास ने भावी की प्रवलता स्वीकार की है और भावी को ही कर्म-गति माना है। तीनों लोक उसी के वश में हैं और उसी के अधीन होकर सुर और नर देह धारण करते हैं जीव के लिए वे भगवद्-भजन को ही कल्याणकारी मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"सूरदास भगवन्त भजन विन मिथ्या जनम गँवैये।"

जगत् और संसार—

वल्लभ-सम्प्रदाय में जगत् और ससार अलग-अलग हैं, जगत् सत्य है और ससार असत्य। सूरदास जी ने जहाँ जगत् को गोपाल का अंश बताया है वहाँ संसार का नाम नहीं लिया है और उसकी उत्पत्ति भी ब्रह्म से ही मानी है वे जगत् को मिथ्या मानने के लिए प्रस्तुत नहीं जिस जगत् में भगवान् का गुणगान करके जीव तरता है उसे कैसे मिथ्या माना जा सकता है। प्रभु का मर्म जान नहीं पडता, वे संसार का सृजन, पालन और संहार करते हैं और संहार के पश्चात् फिर सृजन में लग जाते हैं। सूरदास ससार को हरि की इच्छा का फल मानते हैं। उनका कहना है कि उनकी इच्छा से प्रकट हुआ यह ससार स्वय भी हरिरूप ही है, फिर भी इसे मायाकृत समझो। अतएव मन को सब स्थानों से खींच कर कृष्ण भगवान् में लगाओ। सूर के पदों से स्पष्ट झलक जाता है कि उन्होंने वल्लभाचार्य के अविकृत परिणामवाद को माना है क्योंकि जगत् की उपमा उन्होंने पानी के बुलबुले से दी है और आचार्य वल्लभ के समान ही ईश्वर को ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण माना है। सूरसारावली में सूरदास ने सृष्टि की रचना के विषय में भी लिखा है कि किस प्रकार

भगवान् के हृदय में सृष्टि-रचना की इच्छा उत्पन्न हुई और फिर माया के द्वारा काल-पुरुष के चित्त में किस प्रकार क्षोभ पैदा हुआ ? तदनन्तर सत्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों के मेल से प्रकृति और पुरुष के द्वारा सृष्टि का विस्तार हुआ। वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों के अनुसार सूरसारावली में २८ तत्त्व माने गये हैं, जिनका विवेचन सूरसागर में किया गया है—

"आदि निरंजन, निराकार कोउ हुतौ न दूसर।
रचौं सृष्टि-विस्तार, भई इच्छा एक औसर।
त्रिगुन प्रकृति तैं महत्तत्व, महत्तत्व लै अहंकार।
मन-इन्द्री, सब्दादि पंच, तातैं कियौ विस्तार।
सब्दादिक तैं पंचभूत सुन्दर प्रकटाये।
पुनि सब को रचि अंड आपु में आपु समाये।"

तीसरे स्कन्ध मे भी सृष्टि का क्रम बताया है। यह सृष्टि क्रम कपिल ने अपनी माता को बताया था। इस वर्णन में सूर वल्लभ-सम्प्रदाय से कुछ अलग प्रतीत होते हैं क्योंकि इसमें उन्होंने माया को त्रिगुणात्मिका मान-कर सत्व, रजस् और तमस् उसके गुण माने हैं और आगे चलकर माया का मिथ्यात्व सिद्ध किया है। सूरदास जी संसार को सेंभल के समान और जीव को संसार सेंभल के रूप पर मुग्ध शुक के समान मानते हैं। भेद खुलने पर जीव को पश्चाताप करना पड़ेगा। संसार का मिथ्यात्व उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रतिपादित किया है और जीव की अविद्या को उसके भ्रम का कारण बताकर बार-बार उसे चेतावनी दी है।

माया—

माया का वर्णन सूर के पदों में बड़े विस्तार के साथ मिलता है। वल्लभाचार्य जी ने निश्चित रूप से शङ्कराचार्य के मत से अपने मत को भिन्न रखा है और माया को सत्य तथा भ्रम दोनों ही प्रकार की बताया

है। वह स्वयं ब्रह्म की शक्ति स्वरूपा है और उस के दो स्वरूप विद्या और अविद्या हैं। शकर के मत से तो अविद्या का नाश होने पर जीव और जगत् दोनों की ही सत्ता का लोप हो जाता है। परन्तु वल्लभाचार्य के मत से अविद्या नाश होने पर भी दोनों की स्थिति रहती है, केवल संसार का नाश होता है। सूरदास माया को ईश्वर की ही शक्ति मानते हैं और उन्हों ने इस माया की करामात का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। यह माया नटी हाथ में लकुटी लेकर जीव को कोटिक नाच नचाती है और उसकी बुद्धि को भ्रम में डालती है। माया के बल से ही ईश्वर इस जगत् में विचित्रताओं को भर देता है। वास्तव में उसकी गति यह माया ही है। विनय के पदों में सूरदास ने माया का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। माया के चक्र में पड़ा हुआ भक्त हरि को भी विस्मृत कर देता है। केवल भक्ति द्वारा ही माया से छुटकारा सम्भव है। इस माया ने किस को नहीं विगोया ? नारद जैसे ज्ञानी, शङ्कर जैसे महादेव और ब्रह्मा जैसे सृष्टि-कर्त्ता भी इस माया के चक्कर में आ गये हैं। सूर इस माया को हरि की माया ही मानते हैं। इस प्रकार विनय के पदों में उन्होंने माया का अनिष्टकारी रूप प्रदर्शित किया है और माया का प्रभाव अत्यन्त व्यापक बताया है। उन के पदों में माया का मिथ्यात्व भी प्रतिपादित हुआ है। हम पहले यह बता चुके हैं कि उनके पदों को देख कर यह सदेह हो जाता है कि उन पर शङ्कराचार्य का प्रभाव था। सूर ने माया को मोहिनी, भुजङ्गिनी, नटिनी आदि नामों से कहा है। काम, क्रोध, मद, लोभ मोहादि इसी माया के रूप हैं। माया के विषय में सूर ने पर्याप्त मौलिकता दिखाई है उनकी माया वल्लभ और शङ्कर की माया का सम्मिश्रण सा प्रतीत होती है। सूर ने माया को अविद्या और तृष्णा बता कर अनेक रूपको की योजना की है। अविद्या को गाय बताकर वे अपनी इस गाय को गोकुलपति के गोधन में मिलाना चाहते हैं। यह पापिनी अविद्या आशा के समान है, जो जीव को भरमाती रहती

है। तृष्णा भी उसी माया का स्वरूप है जिसका वर्णन सूर ने एक बड़े सुन्दर रूपक में किया है—

"माधौ, नैकु हटकौ गाइ।
भ्रमत निसि-वासर अपथ पथ, अगह गहि नहि जाइ।
छुधित अति न अघाति कबहूँ निगम द्रुम दल खाइ।
अष्ट दस घट नीर अँचवति तृषा तऊ न बुझाइ॥"

सारे सांसारिक सम्बन्ध माया से उत्पन्न हैं और माया मनुष्य को उन सम्बन्धों के बन्धन में डाल देती है। सूर के लिये माया और अज्ञान एक ही हैं। इसी अज्ञान-तिमिर में पड़ कर मनुष्य अपने उद्देश्य को भूल जाता है। माया के कारण करुणामय की सेवा को छोड़ कर मन मोह में पड़ जाता है और निकट रहने पर भी कस्तूरी वाले मृग के समान जान नहीं पाता। सूर ने माया को भगवान् की वह शक्ति माना है, जिस के कारण यह मिथ्या संसार सत्य सा प्रतीत होता है। तृतीय स्कन्ध के ३८०वें पद में कपिल ने हरिमाया का रूप समझाया है। और भागवत के अनुसार त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति को ही माया बताया है। माया और जीव में इतना ही अन्तर है कि माया चैतन्य-रहित है और जीव चैतन्य सहित। माया का वर्णन सूरसागर में स्थान-स्थान पर मिलता है। दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में ब्रह्मा द्वारा बालवत्सहरण लीला में कृष्ण ने अपनी माया का रूप बताया है। अन्त में ब्रह्मा इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तव में यह संसार मिथ्या है और भगवान् की माया के कारण ही सत्य प्रतीत होता है। ब्रह्मा की स्तुति में माया के रूप को और भी स्पष्ट किया गया है। ब्रह्म कहते हैं—"यह संसार माया और देह मिथ्या हैं, फिर हे हरि बताओ हम तुम्हें क्यों भूल गये?" इत्यादि। कृष्ण भी ब्रह्मा से कहते—"मेरी माया अत्यन्त अगम्य

है। इसका पार कोई नहीं पा सकता।" माया वास्तव में ब्रह्म की मोहक शक्ति है जिसको योगमाया कहा गया है। इस योगमाया का वर्णन भी सूर ने किया है।

यद्यपि सूर ने अनेक प्रकार से माया का वर्णन किया है तथापि माया के विषय में उनके ऊपर पुष्टिमार्ग का ही प्रभाव था क्योंकि दशम स्कन्ध में राधा एवं अन्य गोपियों को कृष्ण के द्वारा मायाजन्य सांसारिक सम्बन्धों का आदर करने का आदेश दिलाया गया है।

मोक्ष—

पीछे उल्लेख हो चुका है कि सूरदास ने पुष्टि-सम्प्रदाय के अनुसार ही जीवों की कोटियाँ मानी हैं। भक्ति मार्ग के पथिक वास्तव में उसी भक्त को मुक्त मानते हैं जो निर्गुण मुक्ति को न चाह कर भगवान् के दर्शन से सुखी होता है। सूरदास की भक्ति स्वत पूर्ण है जिस के प्राप्त होने पर कोई इच्छा नहीं रह जाती। तभी तो वे कहते हैं—"हे भगवन् ! मुझे अपनी भक्ति दो। चाहे आप करोड़ों लालच दिखावें लेकिन मुझे अन्य किसी बात की रुचि नहीं हो सकती।" सूर ने कई स्थानों पर भक्ति का फल बताया है और कई भक्तों को वैकुण्ठ-धाम की प्राप्ति कराई है जिस में भक्त जल में कमल के समान हर्ष शोक से दूर रह कर जीवन-मुक्त हो जाते हैं। कपिल ने भक्ति का फल हरि-पद की प्राप्ति और हरिपुर का वास बताया है। अधिकतर हरिभक्तो को हरिपुरवास ही प्राप्त हुआ है। ध्रुव की कथा में भक्ति का फल वैकुण्ठ-निवास बताया गया है। इसी प्रकार शुकदेव, अजामिल राजा पुरुरवा इत्यादि की कथाओं के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। सूरदास ने कहीं मुक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं किया है। राजा पुरुरवा के वैराग्य-वर्णन में निर्वाण-पद का उल्लेख है। इसी प्रकार सौभरि ऋषि की कथा में भगवान् का भजन करने वाले के लिए

मुक्ति सुलभ बताई है। जीवन-मुक्त अवस्था प्राप्त करने की ओर सूर ने अनेक संकेत किये हैं, सारा भ्रमरगीत इस प्रकार के संकेतों से भरा पड़ा है। सालोक, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्तियों का सैद्धान्तिक रूप तो सूरसागर में नहीं है, परन्तु इन चारों मुक्तियों की अनुभूति सूर ने पूर्णरूप से की है, इसमें कोई संदेह नहीं है। पूर्ण पुरुशोत्तम श्रीकृष्ण के लीलाधाम में पहुँचने की इच्छा सूर के कई पदों से प्रकट होती है और उस भगवत् धाम का स्वरूप भी सूरदास ने बताया है। भगवान् के लीला-धाम में पहुँचना ही सालोक मुक्ति है। उनके चरणारविन्द का सान्निध्य सामीप्य मुक्ति कहलाता है, कृष्ण के साथ उन्हीं के समान आचरण करना सारूप्य मुक्ति है तथा ईश्वर के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाना सायुज्य मुक्ति है। जब भक्त रसरूप भगवान् का अंग हो जाता है तब सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति समझनी चाहिए। वल्लभाचार्य की भाँति सूर ने भी सायुज्य मुक्ति को ही प्राधान्य दिया है। भगवान् के नित्य-रास का वर्णन सायुज्य मुक्ति का ही रूप है। सायुज्य मुक्ति के भी दो रूप हैं—संसार के दुःख से मुक्ति और नित्य सुख की प्राप्ति। इन दोनों अवस्थाओं में जीव में भगवान् का अंग नहीं बनता। लयात्मक सायुज्य मुक्ति में जीव ईश्वर का अंग हो जाता है। शृंगार रस के संयोग और विप्रयोगात्मक दोनों ही रूप हैं। सूर ने एक का वर्णन रासलीला में और दूसरे का भ्रमरगीत में किया है। अपनी आत्मानुभूति को प्रकट करते हुए वे लिखते हैं—

"नमो नमो हे कृपानिधान।
चितवत कृपा कटाच्छ तुम्हारे मिटि गयौ तम अज्ञान।
मोह निसा को लेस रह्यौ नहि, भयौ विवेक विहान।
आतमरूप सकल घट दरस्यौ, उदय कियौ रवि ज्ञान।
मैं मेरी अब रही न मेरै, छुट्यौ देह अभिमान।

भावे परयौ आजु ही यह तन, भावै रहो अमान।
मेरे जिय अब यहै लालसा, लीला श्रीभगवान्।
स्रवन करौं निसि वासर हित सौं, सूर तुम्हारी आन।"

इस पद से सूर ने यही इच्छा प्रकट की है कि मैं सदा भगवान् की लीला का ही श्रवण करता रहूँ। यही उनके लिए सबसे बड़ा सुख है जैसा कि उन्होंने निम्नलिखित पद में प्रकट किया है—

"जो सुख होत गुणपालहिं गायें।
सो सुख होत न जप तप कीन्हे कोटिक तीरथ न्हायें।
दियें लेत नहिं चारि पदारथ, चरन कमल चित लाएँ।
तीन लोक तृन सम करि लेखत नन्दनन्दन उर आवें।
वशीवट वृन्दावन जमुना तजि वैकुण्ठ न जावें।
'सूरदास' हरि कौ सुमिरन करि वहुरि न भव जल आवें।"

इसी अवस्था को भजनानन्द में मग्न होना कहते हैं जिसको सम्प्रदाय में स्वरूपानन्द मुक्ति कहा गया है।

लयात्मक सायुज्य मुक्ति के तीनों रूप हमें सूर में दिखाई देते हैं। वे कृष्ण के अक्षरधाम वृन्दावन का अंग बनकर उस आनन्द का अनुभव करना चाहते हैं। उनके साथ अनेक देवताओं ने भी इस प्रकार की प्रार्थनाएँ की हैं। एक स्थान पर सूर वृन्दावन की 'रेण्ड' ही बनने की कामना करते हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'रसखान' ने भी इस प्रकार की इच्छा प्रकट की है। दूसरे प्रकार की लयात्मक मुक्ति का वर्णन गोपियों के विरह में हुआ है। वहाँ भी सूर ने भक्त-स्वरूपा गोपियों का कृष्ण के साथ एकीकरण दिखाया है। गोपियों को आत्म-विस्मृति हो गई है और वे कृष्ण में पूर्णतया तल्लीन हो जाती हैं। तभी तो किसी किसी गोपी

के मुख से 'दही लेहुरी' के स्थान में "गोपाल लेहुरी" निकल जाता है। प्रवेशात्मक सायुज्य मुक्ति का स्वरूप सूर ने नित्यरास के वर्णन में बड़े विस्तार से उपस्थित किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि सूर ने सैद्धान्तिक रूप से मुक्तिभेद का वर्णन नहीं किया तथापि क्रियात्मक रूप से उन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार सब प्रकार की गोपियों का स्वरूप अपने काव्य में खड़ा किया है। 'गोपी-उद्धव-सम्वाद' के अन्त में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

"ऊधो सूधैं नैक निहारौ।
हम अवलनि को सिखवत आये, सुन्यो सयान तिहारौ।
निरगुन कहौ कहा कहियत है तुम निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौ मुक्ति रही हमचारी।
हम सालोक्य, सरूप, सायुज्यौ रहति समीप सदाई।
सो तजि कहत और की औरै तुम अलि वड़े अदाई।
हम मूरख तुम वड़े चतुर हौ वहुत कहा अव कहिए।
वे ही काज फिरत भटकत कत, अव मारग निज गहिये।
तुम अज्ञान कतहि उपदेसत, ज्ञान रूप हम हीं।
निसिदिन ध्यान सूर प्रभु को अलि देखत जित तितहीं।"

सूर की गोपियाँ विरहासक्ति नें चारों प्रकार की मुक्ति का आनन्द ले रही हैं। वे कृष्णमयी हो चुकी हैं और अपने आपको ज्ञान-रूप मानती हैं। जिधर भी वे देखती हैं उधर कृष्ण का स्वरूप दीख पड़ता है। यह प्रवेशात्मक और लयात्मक दोनों प्रकार की सायुज्य मुक्ति की चरमसीमा है। इसी जीवन-मुक्त अवस्था को सूर ने सर्वश्रेष्ठ बताया है। सूर उच्चकोटि के भावुक कवि थे। ईश्वर का लीलाधाम, श्रवण, सेवा, संगति आदि अवस्थाओं में सूर जिस आनन्द का अनुभव करते हैं, वह

भावे परयौ आजु ही यह तन, भावै रहो अमान।
मेरे जिय अब यहै लालसा, लीला श्रीभगवान्।
स्रवन करौं निसि वासर हित सौं, सूर तुम्हारी आन।"

इस पद से सूर ने यही इच्छा प्रकट की है कि मैं सदा भगवान् की लीला का ही श्रवण करता रहूँ। यही उनके लिए सबसे बड़ा सुख है जैसा कि उन्होंने निम्नलिखित पद में प्रकट किया है—

"जो सुख होत गुपालहिं गायें।
सो सुख होत न जप तप कीन्हे कोटिक तीरथ न्हायें।
दियें लेत नहिं चारि पदारथ, चरन कमल चित लाएँ।
तीन लोक तृन सम करि लेखत नन्दनन्दन उर आवें।
वंशीवट वृन्दावन जमुना तजि वैकुण्ठ न जावै।
'सूरदास' हरि कौ सुमिरन करि बहुरि न भव जल आवै।"

इसी अवस्था को भजनानन्द में मग्न होना कहते हैं जिसको सम्प्रदाय में स्वरूपानन्द मुक्ति कहा गया है।

लयात्मक सायुज्य मुक्ति के तीनों रूप हमें सूर में दिखाई देते हैं। वे कृष्ण के अक्षरधाम वृन्दावन का अंग बनकर उस आनन्द का अनुभव करना चाहते हैं। उनके साथ अनेक देवताओं ने भी इस प्रकार की प्रार्थनाएँ की हैं। एक स्थान पर सूर वृन्दावन की 'रेण्ढ' ही बनने की कामना करते हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'रसखान' ने भी इस प्रकार की इच्छा प्रकट की है। दूसरे प्रकार की लयात्मक मुक्ति का वर्णन गोपियों के विरह में हुआ है। वहाँ भी सूर ने भक्त-स्वरूपा गोपियों का कृष्ण के साथ एकीकरण दिखाया है। गोपियों को आत्म-विस्मृति हो गई है और वे कृष्ण में पूर्णतया तल्लीन हो जाती हैं। तभी तो किसी किसी गोपी

के मुख से 'दही लेहुरी' के स्थान में "गोपाल लेहुरी" निकल जाता है। प्रवेशात्मक सायुज्य मुक्ति का स्वरूप सूर ने नित्यरास के वर्णन में बड़े विस्तार से उपस्थित किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि सूर ने सैद्धान्तिक रूप से मुक्तिभेद का वर्णन नहीं किया तथापि क्रियात्मक रूप से उन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार सब प्रकार की गोपियों का स्वरूप अपने काव्य में खड़ा किया है। 'गोपी-उद्धव-सम्वाद' के अन्त में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

"ऊधो सूधें नैक निहारौ।
हम अवलनि को सिखवत आये, सुन्यो सयान तिहारौ।
निरगुन कहौ कहा कहियत है तुम निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौ मुक्ति रही हमचारी।
हम सालोक्य, सरूप, सायुज्यौ रहति समीप सदाई।
सो तजि कहत और की औरै तुम अति बड़े अदाई।
हम मूरख तुम बड़े चतुर हौ बहुत कहा अब कहिए।
वे ही काज फिरत भटकत कत, अब मारग निज गहिये।
तुम अज्ञान कतहि उपदेसत, ज्ञान रूप हम हीं।
निसिदिन ध्यान सूर प्रभु को अलि देखत जित तितहीं।"

सूर की गोपियाँ विरहासक्ति में चारों प्रकार की मुक्ति का आनन्द ले रही हैं। वे कृष्णमयी हो चुकी हैं और अपने आपको ज्ञान-रूप मानती हैं। जिधर भी वे देखती हैं उधर कृष्ण का स्वरूप दीख पड़ता है। यह प्रवेशात्मक और लयात्मक दोनों प्रकार की सायुज्य मुक्ति की चरमसीमा है। इसी जीवन-मुक्त अवस्था को सूर ने सर्वश्रेष्ठ बताया है। सूर उच्चकोटि के भावुक कवि थे। ईश्वर का लीलाधाम, श्रवण, सेवा, संगति आदि अवस्थाओं में सूर जिस आनन्द का अनुभव करते हैं, वह

किसी मुक्ति में दुर्लभ है। उस आनन्द को सूरदास जी ने बड़े-बड़े मुनियों के लिए स्पृहणीय माना है। वेद, उपनिषदादि धर्म-ग्रन्थों में जिस परमधाम का वर्णन है वह सूरदास जी का लीलाधाम है, उनका भजनानन्द ब्रह्मानन्द से बढ़कर है।

भागवत की भाँति सूरदास में भी अध्यात्म-पक्ष की झलक मिलती है। वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार सूरदास ने ब्रज, वृन्दावन, गोकुल को नित्य-लीलाधाम गोलोक का अवतरित रूप माना है और स्थान-स्थान पर ब्रजधाम की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। ब्रह्मा ने ब्रज वृन्दावन की महिमा "वत्सहरणलीला' के समय गाई है। सूर कहते हैं कि, 'ब्रज की लीला को देखकर विधि का ज्ञान भी नष्ट हो गया, ब्रज की गोपियाँ धन्य हैं, ग्वाले धन्य हैं, वे बछड़े और गौयें धन्य हैं। इस ब्रजलीला का पार शारदा भी नहीं पा सकती।" इस वृन्दावन की रज भी प्रशंसनीय है जहाँ कृष्ण ने धेनुओं को चराया और अपने अधरों से वेणुवादन किया। अरे मन! इस स्थान का क्या कहना यहाँ तो पुरातन पूर्णपुरुष श्रीकृष्ण स्वयं निवास करते हैं। इस धाम में कुछ लेना देना नहीं है, केवल मनमोहन के ध्यान में ही सब आनन्द है। यहाँ की समता कल्पवृक्ष और कामधेनु भी नहीं कर सकते। इसीलिये तो ब्रह्मा के रूप में सूर ने ब्रज की रेणु होने की कामना प्रकट की है।

सूर का वृन्दावन नारायण के वैकुण्ठ से भी बढ़कर है। वृन्दावन से मुरली की ध्वनि जब वैकुण्ठ पहुँची तो नारायण और कमला दोनों के हृदय में उसके प्रति बड़ी रुचि उत्पन्न हुई और वे भी ब्रजवासियों के भाग्य को सराहने लगे।

> "मुरली धुनि वैकुण्ठ गई।
> नारायण कमला सुनि दम्पति, अति रुचि हृदय भई।

सुनो प्रिया यह बानी अद्भुत, वृन्दावन हरि देखौ।
'धन्य धन्य' श्रीपति मुख कहि कहि जीवन व्रज को लेखौ।
रास विलास करत नन्दनन्दन, सो हमतें अति दूरि।
धनि वन धाम धन्य, व्रजधरनी उड़ि लागै जो धूरि।
वह सुख तिहूँ भुवन में नाहीं जो हरि संग पल एक।
'सूर' निरखि नारायण इक टक भूले नैन निमेस ॥"

सूर ने व्रजधाम और वृन्दावन को लौकिक और अलौकिक दोनों ही रूप दिये हैं और पूर्णतया वल्लभ-सम्प्रदाय का अनुकरण किया है।

रास—

वृन्दावन की भाँति सूर ने 'रास' को भी आध्यात्मिक पक्ष प्रदान किया है और रास का विशद् वर्णन किया है। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण, विष्णु-पुराण, हरिवंश तथा पुराण में तो रास का वर्णन हुआ ही है, चैतन्य-सम्प्रदाय के गोस्वामी वर्ग ने भी उसका आध्यात्मिक रूप बड़े विस्तार से प्रतिपादित किया है। 'उज्ज्वल नीलमणि' में कृष्ण विषयक शृंगार रस का बड़ा विस्तार है और मधुर अथवा भक्ति रस की श्रेष्ठता का तर्क-पूर्ण प्रतिपादन हुआ है। जहाँ तक 'रास' का प्रश्न है, सूर की रास-लीला 'रास पंचाध्यायी' को आधार मान कर लिखी गई है, किन्तु उसमें सूर की मौलिकता भी है और वर्गीय प्रभाव भी। भागवत् में राधा का उल्लेख नहीं है। वंगीय वैष्णव शाखा मे परकीया भाव को प्राधान्य दिया गया है, जब कि वल्लभ-सम्प्रदाय वालों ने स्वकीया भाव को अपनाया है किन्तु इस लीला पर बंगीय प्रभाव अवश्य मानना पड़ेगा। 'श्रीमद्भागवत' में तो स्वकीया, परकीया का भाव उपस्थित ही नहीं होता, क्योंकि भागवत्कार ने प्रारम्भ से अन्त तक रास में आध्यात्मिकता का निर्वाह किया है। श्रीकृष्ण को परम पुरुषोत्तम परमात्मा स्वीकार कर

लेने पर स्वकीया और परकीया का प्रश्न ही असम्भव है, क्योंकि यह सब कुछ उनका अपना ही विलास है और उनकी ही अंगभूता अन्तरग शक्ति। रास-लील तथा उसमें प्रवेश करना सूर का चरम-लक्ष्य है। उसी स्थिति को उन्होंने सबसे बड़ी मुक्ति माना है। वेद, सुर, नर, मुनि, शिव आदि इस रास रस की अशकला को भी प्राप्त नहीं कर सकते। रास-रस का वर्णन सूर अपनी शक्ति से बाहर की वस्तु समझते हैं। रास का प्रभाव सार्वत्रिक एवं सार्वभौतिक है, उसके प्रभाव से यमुना भी उलटी बहने लगती है, सुर, नर और मुनियो का ध्यान टूट जाता है और चन्द्रमा भी आत्मविभोर होकर आकाश में अपना मार्ग भूल जाता है। हम पहले कह चुके हैं कि सूर ने रास-वर्णन भागवत् के आधार पर ही किया है और उसी के आधार पर रास के शृंगारपरक भावो को परमब्रह्म कृष्ण के ससर्ग के कारण निर्दोष ठहराया है। सूरसागर में मुरली की ध्वनि सुनकर, गोपियों का आकुल होकर कुल-मर्यादा गृह-व्यापार आदि को तिलाञ्जलि देकर कृष्ण के समीप दौड जाना तथा बाद में कृष्ण द्वारा उन्हें उपदेश देना भागवत् के अनुसार ही है। भागवत् पर आधारित होने पर भी सूर के रास-वर्णन में पर्याप्त मौलिकता है उसमें लौकिक और आध्यात्मिक भावों का सुन्दर सामंजस्य है। आध्यात्मिक रूप में कृष्ण घन हैं एवं गोपियाँ दामिनीस्वरूपा तथा भौतिक पक्ष में कृष्ण नायक और गोपियाँ नायिकायें। यह रास शाश्वत है —

वृन्दावन हरि यहि विधि क्रीड़त सदा राधिका सग।
भोर निशा कबहू नहि जानत सदा रहत एक रग।

तथा

नित्यधाम वृन्दावन श्याम, नित्यरूप राधा व्रजवाम।
नित्यरास जल नित्यविहार, नित्यमान खण्डिताभिसार।

(भेदकातिशयोक्ति)

सखि री सुन्दरता कौ रग।
छिन छिन माँहि परति छवि औरै कमल-नैन के अंग।
परमिति कर राख्यौ चाहति हैं, लागी डोलति सग।
× × × ×
सूरदास कछु कहत न आवै, भई गिरा-गति पग।

संभावना —

बड़ौ निठुर विधना यह देख्यौ।
जब तैं आजु नन्दनन्दन छवि, बार बार करि पेख्यौ।
नख, अँगुरी, पग, जानु, जंघ, कटि रचि कीन्हौ निरमान।
हृदय, बाहु, कर, अंस, अंग अंग, मुख सुन्दर अतिवान।
अधर, दसन, रसना, रसबानी, स्रवन, नैन अरु भाल।
'सूर' रोम प्रति लोचन देत्यौ, देखत बनत गुपाल।

व्यतिरेक—

उपमा नैन न एक रही।
कवि-जन कहत कहत सब आए, सुखि करि नाहि कही।
कहि चकोर विधु मुख बिनु जीवत, भ्रमर नहीं उड़ि जात।
हरि-मुख-कमल-कोष बिछुर तैं, ठाले कत ठहरात।
ऊधौ बधिक व्याध ह्वै आये, मृग सम क्यों न पलात।
× × × ×

अपह्नुति—

चातक न होइ कोउ बिरहिनि नारि।
अजहूँ पिय पिय रजनि सुरति करि झूँठे हि माँगत वारि।

तथा (रूपकगर्भित अपह्नुति)

मधुकर हम न होंहिं वै वेलि।
जिन भजि तजि तुम फिरत और रग करत सुमन-रस केलि।

भगवान् के गुणानुवाद में अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति और विरोधाभास अलंकारों का अधिक प्रयोग हुआ है। अर्थान्तरन्यास और उदाहरण भी जहाँ-तहाँ पाए जाते हैं—चकई, भृगी, सूआ आदि के प्रति कहे हुए पदों में अन्योक्ति अलंकार के सुन्दर उदाहरण निहित हैं। भगवान् अकारण ही भक्तों और दीन जनों पर कृपा करते हैं, ऐसे भावो के प्रकाशन में विभावना अलकार है।

प्रेम-गोपन के लिए सन्देह, विस्मयोत्पत्ति के लिए असगति, असंभव और विषम आदि अलकारों का आश्रय लिया गया है। शिव और कृष्ण के रूप वर्णन में साङ्गरूपक और श्लेष के साथ साथ अपह्नुति का भी प्रयोग हुआ है। राधा और कृष्ण के सौन्दर्य-वर्णन में व्यतिरेक का प्राचुर्य है। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में उत्प्रेक्षा और सागरूपक का तथा ससार की असारता, यौवन की क्षणभगुरता भगवत्प्रेम आदि के वर्णन में उपमा के साथ-साथ अर्थान्तरन्यास का विशेष प्रयोग हुआ है।

सूर की भाषा—

सूरदास जी ने अपने काव्य के लिए अपने इष्टदेव की विहार-भूमि व्रज की ही भाषा को अपनाया। उनकी रचना में हमें व्रजभाषा का जो परिनिष्ठित और साहित्यिक रूप मिलता है, उसको देखकर यह ही अनुमान लगाया जा सकता है कि व्रज-भाषा शताब्दियों से काव्य-भाषा रही होगी, सूर नें तो उसको सुसस्कृत बनाकर साहित्यिक रूप देने में ही योग दिया होगा। खेद है कि आज हमें सूर के पूर्ववर्ती कवियों की वे रचनाएँ नहीं मिलतीं, जिन से सूर की रचना का तारतम्य जोड़ा जा सके। आज जो साहित्य हमें उपलब्ध है, वह या तो अपभ्रश

मिश्रित डिंगल में है या सधुक्कड़ी भाषा में। कबीर आदि सन्त कवियों की वानी में व्रजभाषा का जो रूप मिलता है, वह तो भाषा का खिचड़ी रूप ही कहा जा सकता है। खुसरो की भाषा अवश्य सुसंस्कृत देशी-भाषा का स्वरूप सामने रखती है लेकिन उसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं कही जा सकती। लालचन्द हलवाई कृत भागवत भाषा में भी व्रजभाषा का साहित्यिक रूप नहीं है। जो कोमल-कान्त-पदावली, भावानुकूल शब्द-चयन, सार्थक अलंकार योजना, धारावाही प्रवाह, संगीतात्मकता और सजीवता सूर की भाषा में है। उसे देख कर तो यही कहना पड़ता है कि सूर ने ही सर्वप्रथम व्रजभाषा को साहित्यिक रूप दिया। संगीतात्मकता तो व्रजभाषा की थाती है। यह शौरसेनी अपभ्रंश का विकसित रूप है और बारहवीं शताब्दी से ही इसे साधु-सन्तों और संगीतज्ञों ने अपना लिया था। वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों और भक्तों ने जब इस भाषा को अपनाया तो इसकी आशातीत सफलता हुई और यह समस्त भारत की राष्ट्रभाषा नहीं तो धर्मभाषा तो बन ही गई। पश्चिमी हिन्दी वाले प्रान्तों में अब भी गीतों की भाषा व्रज-मिश्रित ही है।

व्रजभाषा-व्याकरण की कसौटी पर सूर की भाषा खरी नहीं उतरती क्योंकि उन्होंने व्रजभाषा के ही शब्दों को नहीं तोड़ा-मरोड़ा प्रत्युत अन्य भाषाओं के शब्दों को भी अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की है, इस लिए उन की भाषा शुद्ध परिमार्जित भाषा नहीं कही जा सकती। यद्यपि इस भाषा का पूर्णरूप से परिष्कार रीतिकालीन कवियों ने किया तथापि बोलचाल की भाषा को साहित्यिक रूप देने का सूर का प्रयास नितान्त सराहनीय है। संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों से तो उनकी भाषा का ढाँचा बनाने में सहायता मिली ही है, अन्य देशी भाषाओं और अरबी-फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी महत्त्वपूर्ण योग

है। इस प्रकार चलती हुई ब्रजभाषा को व्यापक और प्रभावशाली बनाने का स्तुत्य कार्य सूर ने ही सब से पहले किया। भावानुकूल भाषा का प्रयोग करना ही अच्छे कवि की पहली विशेषता होती है, जिस के दर्शन सूरदास में सर्वत्र होते हैं। उनकी भाषा पात्र और परिस्थिति के अनुकूल ही है। हाँ, जहाँ कहीं विशेष राग रागनियों की तुक्वन्दी में उन्होंने शब्दों की तोड-मरोड की है, वहाँ अवश्य कुछ खटक होती है, परन्तु ऐसे स्थल बहुत अधिक नहीं हैं। प्राय अन्त्यानुप्रास के लोभ में ही तोड-मरोड़ की गई है। विनय तथा भक्ति-सिद्धान्त-प्रतिपादन के पदों में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का ही अधिक प्रयोग हुआ है। रूप-चित्रण और प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में भी ऐसे ही शब्दों का प्राचुर्य है। सस्कृत के कर्णकटु शब्दों में ब्रजभाषा के उच्चारण के आधार पर यत्किञ्चित परिवर्तन कर उनमें उन्होंने माधुर्य लाने का प्रयास किया है। उनकी भाषा में तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों का आधिक्य है, और कहीं-कहीं तो मूल तद्भव शब्दों से ही नए-नए शब्द भी गढ लिए गए हैं। संस्कृत की तत्सम व तद्भव पदावली के अतिरिक्त खडीबोली, अवधी, बुन्देलखण्डी और पजाबी के शब्दों की भी कमी नहीं है। अवधी भाषा की सम्बन्ध-सूचक विभक्तियों को देखकर कभी कभी तो सूर के पदों की पाठ शुद्धि में भी सन्देह होने लगता है।

देशी भाषाओं के अतिरिक्त अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग भी सूर की भाषा में पर्याप्त अधिकता के साथ हुआ है, परन्तु उन्होंने उन शब्दों को उनके मौलिक रूप में प्रयुक्त न करके प्रचलित रूप में ही प्रयोग किया है। मुसलमान सम्पर्क के कारण देशी भाषाओं में अनेक मुसलमानी शब्दों का प्रवेश हो गया था और जन-साधारण द्वारा वे अपना भी लिए गए थे। यह प्रक्रिया शताब्दियों तक चलती रही। आज भी पश्चिमी हिन्दी के जिलों में अरबी, फारसी के शब्दों का इतना

बाहुल्य है कि उनका एक अलग कोष बनाया जा सकता है, परन्तु ध्वनि आदि की दृष्टि से वे अपना रूप बदल कर हिन्दी-शब्दों में इतने घुल-मिल गए हैं कि साधारणतया विदेशी प्रतीत ही नहीं होते। ऐसे शब्दों का तो सूर ने खुलकर प्रयोग किया ही है साथ ही साथ और भी नवीन शब्दो को अपनी भाषा के साँचे में ढालकर ग्रहण किया है। सूर की भाषा-विषयक यह उदारता व्रज-भाषा को समृद्धि-शालिनी और प्रभाव-शालिनी बनाने में बड़ी सहायक सिद्ध हुई। कुछ विदेशी शब्दों को तो उन्होने नामधातु बनाकर प्रयुक्त किया है। अन्य देशी और विदेशी भाषाओं के शब्दों की संख्या सूर-साहित्य में प्रचुर-मात्रा मे मिलती है।

सूर की भाषा में लोकोक्तियो और मुहावरों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। लोकोक्तियों और मुहावरों द्वारा भाषा की व्यञ्जना शक्ति कितनी बढ़ जाती है, यह सब कोई जानते हैं, साथ ही साथ सजीवता और प्रभावोत्पादकता भी आ जाती है। किसी भाव की हृदय पर ठीक-ठीक छाप बिठाने के लिए मुहावरे अपना जोड़ नहीं रखते और जन साधारण में प्रयुक्त लोकोक्तियाँ किसी अनुभव विशेष के स्पष्टीकरण में रामबाण हैं। कहना न होगा, सूरदास जी ने दोनो का ही आश्रय लिया है और एक-एक मुहावरे अथवा लोकोक्तियों द्वारा वह प्रभाव उत्पन्न कर दिया है, जो कई-कई पदों से भी संभव नहीं।

भाषा को प्रौढता प्रदान करने में मुहावरों और लोकोक्तियों का कितना हाथ है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। इन सीधी और सरल उक्तियों में मानव समाज का चिरकाल का अनुभव सञ्चित है, इन का आधार मनोवैज्ञानिक है, अतएव देश और काल की सीमा से ये परे हैं और मानवमात्र के हृदय को समानरूप से स्पर्श करने की क्षमता रखती हैं। आश्चर्य होता है उस अन्धे कवि की सूक्ष्मदर्शिता, दूरदर्शिता और

है। इस प्रकार चलती हुई ब्रजभाषा को व्यापक और प्रभावशाली बनाने का स्तुत्य कार्य सूर ने ही सब से पहले किया। भावानुकूल भाषा का प्रयोग करना ही अच्छे कवि की पहली विशेषता होती है, जिस के दर्शन सूरदास में सर्वत्र होते हैं। उनकी भाषा पात्र और परिस्थिति के अनुकूल ही है। हाँ, जहाँ कहीं विशेष राग रागनियों की तुक्बन्दी में उन्होंने शब्दों की तोड-मरोड की है, वहाँ अवश्य कुछ खटक होती है, परन्तु ऐसे स्थल बहुत अधिक नहीं हैं। प्राय अन्त्यानुप्रास के लोभ में ही तोड-मरोड़ की गई है। विनय तथा भक्ति-सिद्धान्त-प्रतिपादन के पदों में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का ही अधिक प्रयोग हुआ है। रूप-चित्रण और प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में भी ऐसे ही शब्दों का प्राचुर्य है। संस्कृत के कर्णकटु शब्दों में ब्रजभाषा के उच्चारण के आधार पर यत्किञ्चित परिवर्तन कर उनमें उन्होंने माधुर्य लाने का प्रयास किया है। उनकी भाषा में तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों का आधिक्य है, और कहीं-कहीं तो मूल तद्भव शब्दों से ही नए-नए शब्द भी गढ लिए गए हैं। सस्कृत की तत्सम व तद्भव पदावली के अतिरिक्त खड़ीबोली, अवधी, बुन्देलखण्डी और पजाबी के शब्दों की भी कमी नहीं है। अवधी भाषा की सम्बन्ध-सूचक विभक्तियों को देखकर कभी कभी तो सूर के पदों की पाठ शुद्धि में भी सन्देह होने लगता है।

देशी भाषाओं के अतिरिक्त अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग भी सूर की भाषा में पर्याप्त अधिकता के साथ हुआ है, परन्तु उन्होंने उन शब्दों को उनके मौलिक रूप में प्रयुक्त न करके प्रचलित रूप में ही प्रयोग किया है। मुसलमान सम्पर्क के कारण देशी भाषाओं में अनेक मुसलमानी शब्दों का प्रवेश हो गया था और जन-साधारण द्वारा वे अपना भी लिए गए थे। यह प्रक्रिया शताब्दियों तक चलती रही। आज भी पश्चिमी हिन्दी के जिलों में अरबी, फारसी के शब्दों का इतना

बाहुल्य है कि उनका एक अलग कोष बनाया जा सकता है, परन्तु ध्वनि आदि की दृष्टि से वे अपना रूप बदल कर हिन्दी-शब्दों में इतने घुल-मिल गए हैं कि साधारणतया विदेशी प्रतीत ही नहीं होते। ऐसे शब्दों का तो सूर ने खुलकर प्रयोग किया ही है साथ ही साथ और भी नवीन शब्दों को अपनी भाषा के साँचे में ढालकर ग्रहण किया है। सूर की भाषा-विषयक यह उदारता ब्रज-भाषा को समृद्धि-शालिनी और प्रभाव-शालिनी बनाने में बड़ी सहायक सिद्ध हुई। कुछ विदेशी शब्दों को तो उन्होंने नामधातु बनाकर प्रयुक्त किया है। अन्य देशी और विदेशी भाषाओं के शब्दो की संख्या सूर-साहित्य में प्रचुर-मात्रा में मिलती है।

सूर की भाषा मे लोकोक्तियों और मुहावरो का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। लोकोक्तियों और मुहावरों द्वारा भाषा की व्यञ्जना शक्ति कितनी बढ़ जाती है, यह सब कोई जानते हैं, साथ ही साथ सजीवता और प्रभावोत्पादकता भी आ जाती है। किसी भाव की हृदय पर ठीक-ठीक छाप बिठाने के लिए मुहावरे अपना जोड़ नहीं रखते और जन साधारण में प्रयुक्त लोकोक्तियाँ किसी अनुभव विशेष के स्पष्टीकरण में रामबाण हैं। कहना न होगा, सूरदास जी ने दोनों का ही आश्रय लिया है और एक-एक मुहावरे अथवा लोकोक्तियों द्वारा वह प्रभाव उत्पन्न कर दिया है, जो कई-कई पदों से भी संभव नहीं।

भाषा को प्रौढता प्रदान करने में मुहावरों और लोकोक्तियों का कितना हाथ है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। इन सीधी और सरल उक्तियों में मानव समाज का चिरकाल का अनुभव सञ्चित है, इन का आधार मनोवैज्ञानिक है, अतएव देश और काल की सीमा से ये परे हैं और मानवमात्र के हृदय को समानरूप से स्पर्श करने की क्षमता रखती हैं। आश्चर्य होता है उस अन्धे कवि की सूक्ष्मदर्शिता, दूरदर्शिता और

विस्तृत निरीक्षण पर, जिसने अपनी शब्दावली में अनेक सूक्ति-रत्नों को गूँथकर वाणी का अपूर्व शृंगार किया है।

लोक-प्रचलित उपमाओं, मुहावरों और लोकोक्तियों का आश्रय लेकर सूर ने अपनी भाषा को अभीष्ट भावों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त बना लिया है।

सूर का भावपक्ष—

मानवमन की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिये आकुल रहता है। दूसरे की सुनने और अपनी कहने की इस चाट के कारण ही मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा जाता है। अभिव्यक्ति की अदम्यता के साथ ही साथ उसमें सौन्दर्य के प्रति आकर्षण भी स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है, जिसके कारण वह अपनी प्रत्येक वस्तु को सौन्दर्य समन्वित देखना चाहता है। अतएव वह अपने भावों को सुन्दरतम रूप में प्रकट करने को उत्सुक होता है। इसी आधार पर काव्य के दो पक्ष हो जाते हैं—भावपक्ष और कलापक्ष। इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यों तो आचार्यों ने प्राय भावपक्ष को ही प्रमुखता दी है परन्तु वास्तविक बात यह है कि दोनों के सन्तुलित सामञ्जस्य में ही कला का उत्कर्ष है।

भाव किसी स्थूल वस्तु के सम्बन्ध से प्रकट होते हैं। जिस वस्तु से यह अभिव्यक्त होते हैं उसे विभाव कहते हैं, जो दो प्रकार के होते हैं आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन विभाव वे होते हैं, जो मन में किसी चित्र का उदय करते हैं तथा कल्पना की सहायता से उपस्थित होते हैं। उद्बुद्ध भावों को उद्दीप्त करने वाले विभाव उद्दीपन विभाव कहलाते हैं।

गम्भीरता की मात्रा की दृष्टि से भाव दो प्रकार के होते हैं—सञ्चारीभाव और स्थायीभाव। सञ्चारीभाव वे होते हैं जो तरंगों के सदृश उठ-उठ कर तनिक-सी देर में विलीन हो जाते हैं, परन्तु जो भाव रसास्वादन पर्यन्त मन मे ठहरते हैं, उन्हें स्थायी-भाव कहा जाता है। सञ्चारी-भाव स्थायीभाव के पोषक के रूप में ही आ सकते हैं, उस से बढ़ कर नहीं हो सकते। वे स्थायीभाव के रूप में ही मिल जाते हैं और इस तद्रूपता के लिये स्थायीभाव ही मूल सामग्री उपस्थित करता है।

सञ्चारीभावो की संख्या संस्कृत आचार्यों ने ३३ मानी है। देव ने 'छल' को भी संचारियों में गिन कर यह संख्या ३४ तक बढ़ाई। स्थायीभाव की संख्या भरत ने आठ मानी है, जिनका उल्लेख मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश' में इस प्रकार किया है—

> रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
> जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावा. प्रकीर्तिताः॥

अर्थात्, रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय स्थायीभाव बताये गये हैं।

काव्यप्रकाशकार ने निर्वेद को स्थायीभाव मान कर नवम शान्त नामक रस को मानने वाले आचार्यों का समर्थन किया है—

विभावों द्वारा स्थायीभाव के उद्दीप्त होने पर आन्तरिक भावों के जो चिह्न वाह्य आकृति और चेष्टाओं के रूप में दीख पड़ते हैं वे अनुभाव कहलाते हैं। इन स्थायीभाव, अनुभाव, विभाव और सञ्चारी भावों के योग से रस की निष्पत्ति होती है। हमारे चरित-नायक सूर आचार्यों द्वारा गिनाये हुये इन भावों और अनुभावों में ही बँध कर

नहीं चले। उन्होंने दाम्पत्य रति के अतिरिक्त भगवद्विषयक रति और वात्सल्य रति को भी रस की कोटि तक पहुँचाया है और आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शृङ्गार रस सम्बद्ध सचारियों के अतिरिक्त अन्य कितनी ही मनोदशाओं की अभिव्यक्ति कर शृङ्गार को रस-राजत्व प्रदान किया है। यही तो सूर का सूरत्व है। यों तो कृष्णकथा पाँच सहस्र से भी अधिक वर्षों से अनेक वक्ताओं के मुख से कही जाती रही है और इस कारण पिष्ट-पेषित सी प्रतीत होती है, किन्तु सूर ने उस में अपने भावरस का सम्मिश्रण कर कल्पना के दिव्य साँचे में ढाल कर उसे इतने सुन्दर रूप में जनता के सम्मुख रखा है कि वह उनके आराध्य युगल की दिव्य सौन्दर्य-मयी सफल प्रति-कृति प्रतीत होती है जिस के हृदय में प्रेम की अनन्त उत्ताल तरगें उठती हैं पर कोलाहल नहीं होता, आँखों में वियोग के काले मेघ उमडते हैं पर गर्जन नहीं होता, भावों का जमघट होता है परन्तु ओठों में स्पन्दन नहीं होता, जहाँ आग्रह के साथ संकोच, औत्सुक्य के साथ सन्तोष, किशोर चपलता के साथ यौवन की गम्भीरता और साधना के साथ साध्य का असाध्य सामंजस्य है।

भगवान् की शील-शक्ति और सौन्दर्य-विभूतियों में से सूर ने केवल सौन्दर्य का ही चित्रण किया है, उन्होंने केवल बाल्य और यौवन से सम्बद्ध जीवन-झाँकियाँ ही दिखाई हैं, तुलसी की भाँति समस्त जीवन का, विविध अवस्थाओं का और विभिन्न परिस्थितियों का चित्रण उन्होंने नहीं किया। यही कारण है कि सूर का वर्ण्य-विषय सीमित है, क्योंकि इन्हीं दोनों अवस्थाओं से सम्बद्ध वात्सल्य और शृगार रसो की अभिव्यक्ति—बाल्य और यौवन अवस्थाओं के भावो और व्यापारों के चित्रण से ही उन्होंने सरोकार रखा है। उन्हें न समाज से कुछ मतलब था, न लोक-मर्यादा का ध्यान। जनता को उपदेश देने की सन्त-कवियों वाली प्रवृत्ति भी नहीं थी। वे तो ऐतिहासिक साधक थे। उनकी मथुरा

तीन लोक से न्यारी थी, जिसमें कृष्ण, गोपियाँ, उनकी क्रीडायें, बाल-सुलभ चापल्य, नन्द और यशोदा का वात्सल्य, मुरली, रास, यमुना, वृन्दावन, कालिन्दी-तट के निकुञ्ज आदि ही सम्मिलित थे। प्रेम की सांकरी गली में सूर और उनके व्रज-नारी-वल्लभ श्याम के अतिरिक्त कोई अन्य समा ही कैसे सकता था। उन्होंने सखा बनकर कृष्ण की लीलाओं को साक्षात् देखा। संसार से सम्बन्ध त्याग कर ही वे प्रभु के इतने विश्वास-पात्र बन सकते थे। उनके आराध्य का जीवन भी उतना सामाजिक नहीं था, जितना तुलसी के राम का। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इस विषय में यह कथन है—

"पारिवारिक और सामाजिक जीवन के बीच हम सूर के बालकृष्ण को ही थोड़ा बहुत देखते हैं। कृष्ण के केवल बाल-चरित्र का प्रभाव नन्द-यशोदा आदि परिवार के लोगों और पड़ौसियों पर पड़ता दिखाई देता है। इसी बाल-लीला के भीतर कृष्ण का लोक-पक्ष अधिकतर आया है, जैसे, कंस के भेजे हुए असुरों के उत्पात से गोपों का बचाना, काली नाग को नथ कर लोगों का भय छुड़ाना। कृष्ण के चरित में जो यह थोड़ा बहुत लोक-संग्रह दिखाई पड़ता है, उसके स्वरूप में सूर की वृत्ति लीन नहीं हुई है। जिस शक्ति से बाल्यावस्था में ऐसे प्रबल शत्रुओं का दमन किया गया, उसके उत्कर्ष का अनुरंजनकारी और विस्तृत वर्णन उन्होंने नहीं किया। जिस ओज और उत्साह से तुलसीदास ने मारीच, ताड़का, खरदूषण आदि के निपात का वर्णन किया है, उस ओज और उत्साह से सूरदास जी ने बकासुर, अघासुर और कंस आदि के वध और इन्द्र के गर्व-मोचन का वर्णन नहीं किया है। कंस और उसके साथी असुर भी कृष्ण के शत्रु के रूप में सामने आते हैं, लोक-शत्रु या लोक-पीडक रूप में नहीं।"

नहीं चले। उन्होंने दाम्पत्य रति के अतिरिक्त भगवद्विषयक रति और वात्सल्य रति को भी रस की कोटि तक पहुँचाया है और आचार्यों द्वारा प्रतिपादित श्रृङ्गार रस सम्बद्ध सचारियों के अतिरिक्त अन्य कितनी ही मनोदशाओं की अभिव्यक्ति कर श्रृङ्गार को रस-राजत्व प्रदान किया है। यही तो सूर का सूरत्व है। यों तो कृष्णकथा पाँच सहस्र से भी अधिक वर्षों से अनेक वक्ताओं के मुख से कही जाती रही है और इस कारण पिष्ट-पेषित सी प्रतीत होती है, किन्तु सूर ने उस में अपने भावरस का सम्मिश्रण कर कल्पना के दिव्य साँचे में ढाल कर उसे इतने सुन्दर रूप में जनता के सम्मुख रखा है कि वह उनके आराध्य युगल की दिव्य सौन्दर्य-मयी सफल प्रति-कृति प्रतीत होती है जिस के हृदय में प्रेम की अनन्त उत्ताल तरगें उठती हैं पर कोलाहल नहीं होता, आँखों में वियोग के काले मेघ उमडते हैं पर गर्जन नहीं होता, भावों का जमघट होता है परन्तु ओठों में स्पन्दन नहीं होता, जहाँ आग्रह के साथ संकोच, औत्सुक्य के साथ सन्तोष, किशोर चपलता के साथ यौवन की गम्भीरता और साधना के साथ साध्य का असाध्य सामजस्य है।

भगवान् की शील-शक्ति और सौन्दर्य-विभूतियों में से सूर ने केवल सौन्दर्य का ही चित्रण किया है, उन्होंने केवल बाल्य और यौवन से सम्बद्ध जीवन-झाँकियाँ ही दिखाई हैं, तुलसी की भाँति समस्त जीवन का, विविध अवस्थाओं का और विभिन्न परिस्थितियों का चित्रण उन्होंने नहीं किया। यही कारण है कि सूर का वर्ण्य-विषय सीमित है, क्योंकि इन्हीं दोनों अवस्थाओं से सम्बद्ध वात्सल्य और श्रृंगार रसों की अभिव्यक्ति—बाल्य और यौवन अवस्थाओं के भावों और व्यापारों के चित्रण से ही उन्होंने सरोकार रखा है। उन्हें न समाज से कुछ मतलब था, न लोक-मर्यादा का ध्यान। जनता को उपदेश देने की सन्त-कवियों वाली प्रवृत्ति भी नहीं थी। वे तो ऐतिहासिक साधक थे। उनकी मथुरा

तीन लोक से न्यारी थी, जिसमें कृष्ण, गोपियाँ, उनकी क्रीडायें, बाल-सुलभ चापल्य, नन्द और यशोदा का वात्सल्य, मुरली, रास, यमुना, वृन्दावन, कालिन्दी-तट के निकुञ्ज आदि ही सम्मिलित थे। प्रेम की सांकरी गली में सूर और उनके व्रज-नारी-वल्लभ श्याम के अतिरिक्त कोई अन्य समा ही कैसे सकता था। उन्होंने सखा बनकर कृष्ण की लीलाओं को साक्षात् देखा। संसार से सम्बन्ध त्याग कर ही वे प्रभु के इतने विश्वास-पात्र बन सकते थे। उनके आराध्य का जीवन भी उतना सामाजिक नहीं था, जितना तुलसी के राम का। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इस विषय में यह कथन है—

"पारिवारिक और सामाजिक जीवन के बीच हम सूर के बालकृष्ण को ही थोड़ा बहुत देखते हैं। कृष्ण के केवल बाल-चरित्र का प्रभाव नन्द-यशोदा आदि परिवार के लोगो और पड़ौसियो पर पड़ता दिखाई देता है। इसी बाल-लीला के भीतर कृष्ण का लोक-पक्ष अधिकतर आया है, जैसे, कंस के भेजे हुए असुरों के उत्पात से गोपो का बचाना, काली नाग को नथ कर लोगों का भय छुड़ाना। कृष्ण के चरित में जो यह थोड़ा बहुत लोक-संग्रह दिखाई पड़ता है, उसके स्वरूप में सूर की वृत्ति लीन नहीं हुई है। जिस शक्ति से बाल्यावस्था में ऐसे प्रबल शत्रुओं का दमन किया गया, उसके उत्कर्ष का अनुरंजनकारी और विस्तृत वर्णन उन्होंने नहीं किया। जिस ओज और उत्साह से तुलसीदास ने मारीच, ताड़का, खरदूषण आदि के निपात का वर्णन किया है, उस ओज और उत्साह से सूरदास जी ने बकासुर, अघासुर और कंस आदि के वध और इन्द्र के गर्व-मोचन का वर्णन नहीं किया है। कंस और उसके साथी असुर भी कृष्ण के शत्रु के रूप में सामने आते हैं, लोक-शत्रु या लोक-पीडक रूप में नहीं।"

कबहुँ अँगभूषन बनावति, रान-लोन उतारि।
सूर सुर-नर सबै मोहे, निरखि यह अनुहारि।"

वात्सल्य रस के समस्त तत्त्व इस पद में मिल सकते हैं। कृष्ण आलम्बन हैं, यशोदा-आश्रय, कृष्ण की अनुपम छवि, रुनक-झुनक पैंजनियाँ बजाते हुए चलना, नाचना आदि उद्दीपन हैं। यशोदा का हरि को देखना, चूमना, आँचर में छुपाना, पीछे की ओर दुराना आदि अनुभाव हैं और हर्ष संचारीभाव।

सांसारिक अनुभवों से दूर रहते हुए भी सूर ने सांसारिक सम्बन्धों का अप्रतिम वर्णन किया है। पुरुष होकर भी वे माता के हृदय से विभूषित थे और अन्धे होते हुए भी सूक्ष्मदर्शी और दूर-द्रष्टा थे। मा के दहृय की कोमल कामनाओं का निम्नलिखित पद में कितना सुन्दर स्फुरण हुआ है—

"जसुमति मन अभिमान करै।
कब मेरौ लाल घुटुरुनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरे मुख वचन भरै।
कब नन्दहि बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहि ररै।
कब मेरौ अँचरा गहि मोहन, जोइ सोइ कहि मोसों झगरै।
कब धौं तनक तनक कछु खैहै, अपने करसों मुखहिं भरै।
कब हँसि बात कहैगो मोसों, जा छवि तें दुख दूरि हरै।

बच्चे के विकास के प्रति माँ के हृदय मे अदम्य उत्सुकता रहती है। उसकी समस्त क्रियायें और भावनायें उसी में केन्द्रित हो जाती हैं। वह उस दिन को देखने को लालायित रहती हैं, जब उसका लाल घुटनो चल कर उसके पास तक आने लगेगा, प्रथम बार तोतली वाणी से निकले हुये 'माँ' शब्द के माधुर्य पर वह संसार की समस्त

बात यह है कि शुक्ल जी तुलसी को आदर्श मान कर काव्य को लोक-मर्यादा और लोक-मंगल की दृष्टि से ही देखते थे। उनका अपना निजी दृष्टि-कोण था, परन्तु जैसा कि हम निवेदन कर चुके हैं, सूर व्यक्तिगत साधना के कायल थे। उन्हें शहर के अन्देशे से दुबला होना इष्ट नहीं था। इसके अतिरिक्त सूर का काव्य मुक्तक-प्रगीतकाव्य है, जिसमें प्रबन्ध-काव्य के महान् कान्तार में उन्मुक्त रूप से विकसित होती हुई घटना-वल्लरियों और व्यापार-पादपों की शाखाओं के प्रसार का आतङ्कमय स्वरूप नहीं मिलता, पर नियमित भावसुमन-वाटिका के मनोहारी दृश्य की रमणीयता अवश्य मिलती है। अपने सीमित क्षेत्र में ही सूर की कला ने ऐसी कमनीय 'कला' का प्रदर्शन किया है कि अन्य कलाकार हेच हैं। उनकी कल्पना को उड़ने के लिए भले ही लम्बा क्षेत्र नहीं मिला है, पर वह पाठक को अपने साथ इतना ऊँचा उड़ा ले जाती है, जहाँ पहुँच कर उसे अन्य कवियों की कल्पनायें अत्यन्त क्षुद्र दीख पड़ती हैं। वात्सल्य और शृंगार के रस की जो धारा उन्होंने बहाई, उसका प्रसार जितना कम है, गंभीरता उतनी ही अधिक है। सूर ने वात्सल्य और दाम्पत्य दोनों प्रकार की रति का बड़ा ही मर्मस्पर्शी अभिव्यजन किया है, जिसमें सयोग और वियोग दोनों पक्षों के अनेक हृदय-ग्राही चित्र हैं। नन्द के घर खेलते, डोलते, नाचते कृष्ण का एक चित्र देखिए—

"ग्वालि गह बाल-रूप मुरारी।
पाइ पैंजनि रटति रुनझुन, नचावति नद-नारि
कबहुँ हरि कौं लाइ अँगुरी, चलन सिखवति ग्वारि।
कबहुँ हृदय लगाइ हित करि, लेति अचल डारि।
कबहुँ हरि कौं चितै चूमति, कबहुँ गावति गारि।
कबहुँ ले पाछे दुरावति, ह्याँ नहीं वनवारि।

कबहुँ अँगभूषन बनावति, रान-लोन उतारि।
सूर सुर-नर सबै मोहे, निरखि यह अनुहारि।"

वात्सल्य रस के समस्त तत्त्व इस पद में मिल सकते हैं। कृष्ण आलम्बन हैं, यशोदा-आश्रय, कृष्ण की अनुपम छवि, रुनक-झुनक पैंजनियाँ बजाते हुए चलना, नाचना आदि उद्दीपन हैं। यशोदा का हरि को देखना, चूमना, आँचर में छुपाना, पीछे की ओर दुराना आदि अनुभाव हैं और हर्ष संचारीभाव।

सांसारिक अनुभवों से दूर रहते हुए भी सूर ने सांसारिक सम्बन्धों का अप्रतिम वर्णन किया है। पुरुष होकर भी वे माता के हृदय से विभूषित थे और अन्धे होते हुए भी सूक्ष्मदर्शी और दूर-द्रष्टा थे। मां के हृदय की कोमल कामनाओं का निम्नलिखित पद में कितना सुन्दर स्फुरण हुआ है—

"जसुमति मन अभिमान करै।
कब मेरौ लाल घुटुरुनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरे मुख वचन भरै।
कब नन्दहि बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहि ररै।
कब मेरौ अँचरा गहि मोहन, जोइ सोइ कहि मोसों झगरै।
कब धौं तनक तनक कछु खैहै, अपने करसों मुखहिं भरै।
कब हँसि बात कहैगो मोसों, जा छवि तें दुख दूरि हरै।

बच्चे के विकास के प्रति माँ के हृदय में अदम्य उत्सुकता रहती है। उसकी समस्त क्रियायें और भावनायें उसी में केन्द्रित हो जाती हैं। वह उस दिन को देखने को लालायित रहती है, जब उसका लाल घुटनों चल कर उसके पास तक आने लगेगा, प्रथम बार तोतली वाणी से निकले हुये 'माँ' शब्द के माधुर्य पर वह संसार की समस्त

विभूति को न्योछावर कर सकती है। त्याग की यह भावना मातृत्व की देन है स्वार्थ का तकाज़ा नहीं। वह अपने पुत्र को इसी लिये प्यार करती है कि वह उसका पुत्र है, इन्हीं भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति इस पद में हुई है। माँ का भीरु हृदय पुत्र के अनिष्ट की आशंका से विचलित हो उठता है, वह ऐसी नौबत ही क्यों आने दे कि उसके बच्चे को किसी की नजर भी लगसके ? तभी तो वह भौह पर दिठौना लगा देती है (यदि मैथिलीशरण जी की, "हेतु वन रहा था आप दीठ का दिठौना ही" उक्ति के अनुसार उसको नज़र लगने की सम्भावना बढ ही जाय तो माँ का क्या कुसूर है ?) वह तो अपना सर्वस्व बच्चे के ऊपर वार देती है।

"लालन, वारी या मुख ऊपर।
माई मोरिहि दीठि न लागै तातैं मसि विन्दा दियो भू पर।
सरवस मैं पहले ही वारयो, नान्हीं-नान्हीं दँतुली दू पर।
अब कहाँ करौं निछावरि सूरज, सोचति अपने लालन जू पर।"

बच्चे को दूध न पीता हुआ देख कर समवयस्को के प्रति उसके 'स्पर्धा' के भाव को जागृत कर दूध पिलाती हुई माता का चित्र देखिये—

"कजरी कौ पय पियहु लाल, जासौ तेरी बेनि बढै।
जैसे देखि और व्रज वालक त्यों वल वैस चढै।
यह सुनि कै हरि पीवन लागे ज्यौं त्यौं लयौ लढै॥"

बच्चे के नामकरण और अन्नप्राशन आदि संस्कारों के अवसर पर माता का हृदय फूला नहीं समाता। कनछेदन में उसके हृदय में मोद के साथ धुक पुक भी होती रहती है, उसके बच्चे को कान छिदाने में कष्ट भी तो होगा और जब कान छेदे गये तो यशोदा की क्या दशा थी—

"लोचन दोऊ भरि भरि माता कनछेदन देखत जिय मुरकी।"

माँ का हृदय बडा ही शङ्कालु होता है। घर से निकलते ही उसके बच्चे पर न जाने क्या आपत्ति आ जाय ? छोटा सा बालक खेलने के लिए

दूर चला जाय तो न जाने कहाँ बहक जाय ? पर बच्चे तो बच्चे ही होते हैं। उनकी ज़िद का क्या कहना ? मजबूर हो कर माँ को साम छोड़ कर दाम नीति का आश्रय लेना पड़ता है। देखिये कल्पित 'हाऊ' का कृष्ण को कैसा भय दिखाया जा रहा है—

"खेलन दूर जात कत कान्हा।
आजु सुन्यो मैं 'हाऊ' आयौ तुम नहिं जानत नान्हा।
इक लरिका अवहीं भजि आयौ, रोवत देखो ताहि।
कान तोरि वह लेत सवनि के, लरिका जानत जाहि।

घर में मंगल करने वाले बच्चों को खेलते देखकर जब माता-पिता का वात्सल्य उमड़ता है तो वे तन्मय हो जाते हैं उनका बचपन लौट आता है और वे अपने आप भी बच्चे के साथ बालक की भाँति खेलने लगते हैं, वही हार जीत की सम्भावना से प्रेरित स्पर्धा का भाव माधुर्य का आवरण धारण करके उनके हृदय में जा बैठता है। देखिये नन्द और यशोदा की प्रतियोगिता के कारण विचारे कृष्ण की स्थिति 'नट के बटा' की सी हो रही है, उन्हें खिलौना ही बना लिया गया है—

"कबहुँक दौरि घुटुरुवनि लपकत, गिरत उठत पुनि धावै री।
इततें नन्द बुलाइ लेत हैं, उततें जननि बुलावै री।
दम्पति होड़ करत आपुस में स्याम खिलौना कीन्हों री।"

कृष्ण कुछ बड़े होते हैं, माखन चोरी की आदत पड़ गई। नित घर-घर कमोरी साफ़ होने लगी, अकेले ही नहीं, सखाओं का गिरोह भी बना लिया, खाते तो कम थे बिखेरते बहुत थे। 'जब नित प्रति हानि होति गोरस की' तो ब्रजनारियों के नाकों दम आ गया। यशोदा से शिकायत करनी पड़ी, पर क्या यशोदा का मातृहृदय कृष्ण के विरुद्ध इस अभियोग को आँख मूँद कर मान लेता ? उसे यकीन आ सकता है, विशेषकर यौवन मदमाती ग्वालिनों का—

"मेरौ गोपाल तनक सौ कहा करि जाने दधि की चोरी।
हाथ नचावति आवति ग्वारिन, जीभ करै किन थोरी।
कब सीकें चढि माखन खायौ, कब दधि मटुकी फोरी।
अँगुरी करि कबहूँ नहि चाखत, घर ही भरी कमोरी।"

× × ×

"कहै जनि ग्वारिन झूठी बात।
कबहू नहिं मनमोहन मेरौ, धेनु चरावन जात।
बोलत हैं बतियाँ तुतरौं ही, चलि चरननि न सकात।
कैसे करै माखन की चोरी, कत चोरी दधि खात।
दें ही लाइ तिलक केसरि कौ, जोवन मद इतराति।
'सूरज' दोष देत गोविन्द को, गुरु लोगनिन लजात।"

बाल्यावस्था का बड़ा ही सुन्दर और स्वाभाविक वर्णन सूर ने किया है। बच्चों की मनोवृत्तियों, व्यापारों और चेष्टाओं का साकार और चित्रण सूरसागर में मिलता है। सूर की अन्तर्दृष्टि मानव-मानस तह में गोता लगाकर भाव-रत्न लाने में बेजोड़ है। बालकों की दैनिक र्या के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद को, छोटे से छोटे व्यापार को और गूढ से गूढ अनुभूति को चित्रित करना कवि भूला नहीं। एक के बाद दूसरा चित्र इस सफाई से कवि ने दिया है कि उसकी चित्रपटी का सौन्दर्य देखते ही बन पड़ता है। माखन खाते हुए कृष्ण का एक धूलि-धूसर चित्र देखिये —

"सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरनि चलत रेनु-तन मंडित, मुख दधि लेप किए।"

पैरों चलने के प्रयत्न में डगमगाकर गिरते हुये कृष्ण का चित्र देखना हो तो इधर आइये—

"चलन चहत पाइन गोपाल।
लए लाइ अँगुरी नन्दरानी, सुन्दर-स्याम तमाल।
डगमगात गिरी परत पानि पर, भुज-भ्राजत नन्दलाल।

बच्चों में स्पर्धा का भाव बड़ा तीव्र होता है। वे किसी चीज़ में अपने हमजोलियों से पीछे नहीं रहना चाहते। एडलर के अनुसार बच्चों की यही भावना उन्हें उन्नत बनने में सहायता देती है। कृष्ण की चोटी से बलराम की चोटी बड़ी है, वे अपनी चोटी को बढ़ाना चाहते हैं। यशोदा उनकी इस प्रवृत्ति का लाभ उठाकर उन्हें चोटी बढ़ने का लोभ देकर दूध पिलाती हैं, क्योंकि वे वैसे दूध पीते नहीं, पर जब फिर भी चोटी न बढ़ी तो वे यशोदा से शिकायत करते हैं—

"मैया कबहि बढैगी चोटी।
किती बार मोहि धूध पियत भई, यह अजहू है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों है है लाँबी मोटी।
काढत गुहत न्हवावत जै है नागिन सी भुई लोटी।
काचौ दूध पियावति पचि पचि देती न माखन रोटी।"

वयस्कों द्वारा—विशेषत: अपने ही बड़े भाई द्वारा—चिढ़ाए जाने पर बच्चों के हृदय में जो आत्मगौरव की भावना जाग्रत होती है, वह उन्हें शिकायत करने के लिए उत्तेजित करती है। बच्चे अपने सुख-दु:ख की बात सब से अधिक अपनी माता से ही कहना चाहते हैं क्योंकि उनके लिए वही सब से अधिक निश्छल स्नेह रखती है। यही कारण है कि जब खेल ही खेल में बलराम ने कृष्ण को मोल लिया हुआ बताया तो कृष्ण ने भी घर आकर शिकायत की—

"मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ।

गोरे नन्द जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात।"

ऐसे बच्चों के साथ न खेलना, उनसे दूर रहने की चेष्टा करना बाल-हृदय का स्वभाव है। बालक-हृदय स्नेह का भूखा होता है, वह उनके साथ क्यों खेले, जिनसे उसे खीझ और झुँझलाहट के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता—

"खेलन अब मेरी जाइ बलैया।
जबहि मोहिं देखत लरिकनि-सग तबही खिझत बल भैया।"

खेलने में झगडते हुए बालकों के 'क्षोभ' का कितना सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित पद में मिलता है—

"खेलन में को काकौ गुसैंयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा बरबस ही कत करत रिसैयाँ।
जाति-पाँति हमते बड नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।"

बलराम तथा अन्य ग्वाल-बालों को गोचारण के हेतु जाते देख कर कृष्ण की बाल-स्वभाव-सुलभ अनुकरण की प्रवृत्ति जाग उठती है। वे स्वयं भी गोचारण के लिए जाना चाहते हैं क्योंकि अब वे बडे हो गए हैं—

"मैया हौं गाइ चरावन जैहौं।
तू कहि महर नन्द बाबा सौं बड़ो भयौ न डरैहौं।"

प्रकृति की सुरम्य पृष्ठभूमि पर गोचारण के अत्यन्त सुन्दर दृश्य सूरदास जी ने चित्रित किए हैं। ग्वाल-बालों की स्वाभाविक सरल चित्त-वृत्तियों के साथ उनके क्रिया-कलापों के भी क्रम-बद्ध अनेक चित्र आपको सूरसागर में दीख पडेंगे। बलराम कृष्ण की गैया खुद घेरते हैं और उन्हें वन के फल तोड-तोड कर देते हैं—

मैया री मोहिं दाऊ टेरत ।
मोकौं वन-फल तोरि देत हैं, आपुन गैयन घेरत ।
और ग्वाल सँग कबहुँ न जैहौं, वे सव मोहिं खिझावत ।
मैं अपने दाऊ सँग जैहौं, वन देखैं सुख पावत ।

खिझाने वालों के साथ न जाकर वन-फल तोड़ कर देने वाले दाऊ के साथ जाने का आग्रह कृष्ण की वाल-प्रवृत्ति का द्योतक है, जिसके अनुसार बालक स्नेह का व्यवहार ही पसन्द करता है। बालकों को अपने से बड़ों के कार्य करने में आत्मा के प्रसार से उद्भूत आनन्द का आस्वादन होता है अतएव उस कार्य के लिए उनके हृदय में बहुत ही अधिक उत्साह और चाव रहता है। कृष्ण के हृदय में गोचारण की इतनी उत्सुकता है कि वे कलेऊ करते-करते ही भाग खड़े होते हैं, किन्तु जब भूख सहन नहीं होती तो घर जाने वाले ग्वालों से यशोदा के पास खबर भेजते हैं। यशोदा घर ही की एक ग्वालिनी को छाक लेकर भेजती है। भूख में चाहे भजन न हो परन्तु मनोविनोदी व्यक्ति तो विनोद किए बिना नहीं चूकता। कृष्ण और वलराम दोनों छिप जाते हैं, बेचारी ग्वालिन सारे वृन्दावन को छानती फिरती है। बार-बार टेर लगाने पर हजरत निकल कर आते हैं—

वृन्दा आदि सकल वन ढूँढ्यौ, जहँ गाइन की टेर ।
सूरदास प्रभु दुरत दुराए, डुँगरनि ओटि सुमेर ।

तथा

वहुत फिरी तुम काज कन्हाई ।
टेरि-टेरि हौं भई वावरी, दोउ मैया तुम रहे लुकाई ।

कृष्ण और गोपियों के प्रेम का विकास प्रकृति के सुन्दर वातावरण में हुआ है, वाल्यावस्था में साथ-साथ खेलने वाले सरल

प्रकृति वाले सखा और सखी, किशोरावस्था के आकर्षण, कौतुहल, जिज्ञासा आदि भावों से गुजरते हुए यौवन काल के प्रिय और प्रिया बन गए। उनके प्रणय की निष्पत्ति में साहचार्य और सौन्दर्य-प्रियता दोनों का ही योग है। यह प्रेम अचानक ही बैठे-बिठाए गैब से टूट पड़ने वाली चीज नहीं है जो अपनी आकस्मिक चमक से मनुष्य को हक्का-बक्का बना दे और आँखों देख कर भी जिस पर मनुष्य विश्वास न कर सकें। यह तो उस प्रथम स्वाभाविक आकर्षण का परिपाक है, जो दो हृदयों को चञ्चल बना कर स्वाभाविक गति से एक दूसरे की ओर चलने के लिए प्रेरित करता है और स्वयं सघन होता हुआ उन्हें परिवेष्टित कर अन्त में एक दूसरे से दृढता के साथ जकड़ देता है, जो साथ-साथ हँसने-खेलने, उठने-बैठने और चलने-फिरने में स्वाभाविक हँसी-मजाक और छेड़ छाड़ के साथ परिपुष्ट हुआ है और जिसका स्फुरण मन्द किन्तु निश्चित और नियमित गति से हुआ है। यह वह लोभ नहीं है, जो वासन्ती उषा में अँगडाई लेकर चटकती हुई कलियों के अन्तराल से उडते हुए सौरभ का समीरण से परिचय पाकर रस-पान-लिप्सु मधुपों को एक के अनन्तर दूसरी की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है। गोपियों के प्रेम का अकुर बरसाती घास-फूँस नहीं है। इनकी जड इतनी गहरी है कि उसे वाह्य सिन्चन की आवश्यकता ही नहीं पडती, केवल आन्तरिक रस से ही हरा-भरा रहता है।

कृष्ण का सौन्दर्य वैसे ही व्रज में सार्वजनीन चर्चा का विषय था फिर उनकी कैशोर्य-जन्म-चपलता और वेणु-वादन-निपुणता ने मिलकर गोपियों पर टोना ही कर दिया। कृष्ण के सौन्दर्य का प्रभाव बडा ही व्यापक है। उनके शरीर के प्रत्येक अग से छवि फूटी पडती है। गोपियाँ उनके सौंदर्य पर अपना सर्वस्व वारने को प्रस्तुत हैं—

"तरुनी निरखि हरि-प्रति अंग।
कोउ निरखि नख इन्दु भूली, कोउ चरन-जुग-रग।

कोउ निरखि नूपुर रही थकि, कोउ निरखि जुग जानु।
कोउ निरखि जुग जंघ सोभा, करति मन अनुमानु।
कोउ निरखि कटि पीत कछनी मेखला रुचि कारि।
कोउ निरखि हृदनाभि की छवि, डारयौ तन मन वारि।"

श्याम के जिस सौन्दर्य ने 'वन-उपवन सरिता सब मोहे' वह यदि गोपियों को इस स्थिति पर पहुँचा दे कि 'सूर स्याम बिनु और न भावै कोउ कितनौ समुझावै' तो क्या आश्चर्य ? कृष्ण के विशाल लोचन, चारु कपोलों पर डोलते हुए चंचल कुण्डल, अरुण अधरो पर थिरकती हुई माधुर्यवाहिनी मुरलिका, नीले मेघ और धूम्रपटल-सी रोमराजि, कमल-कोमल-चरण, सब कुछ इतने मादक हैं कि इनकी सौन्दर्यसुरा की खुमारी मे व्रजनारियाँ मत्त हैं—

"तरुनी स्याम रस मतवारि।
प्रथम जोवन-रस चढ़ायौ, अतिहि भई खुमारि।
दूध नहिं, दधि नहीं, माखन नहीं, रीतौ माट।
महारस अँग अँग पूरन कहाँ घर कहँ बाट।
मातु-पितु गुरुजन कहाँ के, कौन पति, को नारि।
सूर प्रभु कें प्रेम-पूरन, छकि रहीं व्रजनारि।"

माखन-चोर कृष्ण का सौन्दर्य गोपियों का चित्तचोर बन गया तो फिर भोली राधिका उसकी चपेट से कैसे बच सकती थी ? एक दिन कृष्ण खेलने के लिए निकले और यमुना-तट पर जा पहुंचे, वहीं राधा का प्रथम दर्शन हुआ—

"बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी तू बेटी, देखी नहीं कहूँ व्रज-खोरी।
काहे कौ हम व्रजतन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।

सुनत रहति स्रवननि नँद-ढोटा, करति रहति माखन दधि चोरी।
तुम्हरो कहा चोरी हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुरइ राधिका भोरी।"

प्रथम परिचय के पश्चात् ही साथ-साथ खेलना, एक दूसरे के घर आना-जाना और परस्पर कार्य में हाथ बँटाना आदि बातें उस परिचय को प्रेम के रूप में परिणत करने लगीं। बीच-बीच में हास-परिहास, मनोविनोद और नोंक-झोंक के मन्द-तेज, शीत-उष्ण वातावरण में प्रेम रस के मधुर और चरपरे अनुभव होते रहे—साहचर्य रस पा कर प्रेम का अंकुर लहलहाने लगा।

इस प्रकार प्रतिदिन पनघट-प्रस्ताव, यमुना-विहार, भरे घर में संकेतों द्वारा वार्तालाप, हिंडोला, रास आदि की लीलाएँ होती रहीं जिनके द्वारा विकसित होता हुआ वह प्रेम स्वच्छन्द रमण के साम्राज्य में जा उतरा। इस प्रकार राधाकृष्ण की क्रीडाओं के वर्णन में सूर ने न जाने कितने भावों की कल्पना की है? उनका संयोग-वर्णन रीति-कालीन कवियों की भांति गुलगुली गिलमों और गलीचों तक ही नहीं रह गया है, उस में प्रकृति का अनन्त प्रसार है, सीमित सञ्चारियों की कृत्रिम धारा के स्थान पर सरस हृदय का उन्मुक्त भाव-वर्षण है।

सूरदास के शृंगार-वर्णन करते समय हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वे पहले भक्त थे और बाद में कुछ और। उन्होंने जो कुछ कहा है, माधुर्य भक्ति के आवेश में। उनकी रचनाएँ शृंगार रस से सम्बद्ध उदाहरणों के उद्देश्य से नहीं लिखी गईं। सूर को तो बस इतना ध्यान था कि वे अपने प्रभु का सौन्दर्य-गान कर रहे हैं। उन्होंने यह कभी न सोचा होगा कि आगे चल कर उनके साहित्य का क्या प्रभाव पड़ेगा अथवा उनकी रचनाओं में काव्य-शास्त्र के लक्षणों के उदाहरण भी आए

हैं। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि वे जयदेव, विद्यापति आदि भक्त श्रृंगारी कवियों से प्रभावित अवश्य थे। अतः अनायास ही उन के मुँह से जो श्रृंगारमयी उक्तियाँ निकलीं उन में काव्य-शास्त्र के अनेक लक्षणों का समन्वय हुआ है। साहित्य लहरी में तो नायिका-भेद के अनेक उदाहरण प्राप्त होते ही हैं, किन्तु उसे नायिका-भेद का ग्रन्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें लक्षणों का अभाव है। सूरसागर में भी ऐसे बहुत से पद मिल जाते हैं। आगे चल कर रीति-कालीन आचार्यों ने नायिका-भेद का अलग ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया, जिससे वह काव्य-शास्त्र का एक स्वतन्त्र ही विषय बन गया, उनसे पहले रस का ही एक अंग माना जाता था।

वियोग-वर्णन (वात्सल्य-वियोग)—

संयोग की भांति वियोग का वर्णन भी सूर ने वात्सल्य से ही प्रारम्भ किया है। कृष्ण की लीलाओ से व्रज-भूमि का चप्पा-चप्पा मुखरित हो रहा था। चारों ओर सुख और सन्तोष का राज्य था। यशोदा, नन्द, गोप, गोपियाँ सब प्रसन्न थे, पर एक दिन रङ्ग में भंग हुआ। अक्रूर जी कंस का निमंत्रण ले कर आए और कृष्ण-बलराम को ले जाने का प्रस्ताव रक्खा। यशोदा पुत्र-वियोग की आशंका से सिहर उठी, पुत्र की सुकुमारता और कंस की दुष्टता को देख कर उसका वियोग और भी तीव्र हो उठा। लाड़-प्यार में पले हुए जो कृष्ण गुरुजनों को भी प्रणाम करना नहीं जानते, वे राजसभा के नियमों को क्या जानें ? मथुरा के हत्यारे असिधारी असुर क्या इन बातों को सह सकेंगे ? यशोदा का मातृ-हृदय यह सोच कर व्याकुल हो उठता है—

> "ये कहा जानैं राज-सभा कौ, ये गुरुजन विप्रहु न जुहारे।
> मथुरा असुर-समूह बसत है, कर कृपान जोधा हत्यारे।"

कृष्ण के विना घर-आगन गोकुल सब कुछ सूना है। जिस कृष्ण के विना यशोदा पल भर भी नहीं रह सकती थी उसे वह कैसे वियुक्त कर दें? चाहे कंस बन्दी बना ले, उसे पर्वाह नहीं, पर वह अपनी आखों के तारे कृष्ण को अलग नहीं करना चाहती, चाहे प्राण ही क्यों न देने पड़ें —

"मेरौ माई निधनी कौ धन माधौ।
बारवार निरखि सुख मानति तजति नहीं पल आधौ।
छिनु छिनु परसति अङ्कम लावति, प्रेम प्रकृत ह्वै बाँधौ।
करिहै कहा अक्रूर हमारौ, दैहैं प्रान अवाधौ।
सूर स्यामघन हौं नहि पठवौं, अवहि कस किन बाँधौ।"

'निधनी कौ धन' में कितनी निरीहता और विवशता है? सन्तोष के शान्त-सागर में पुत्र-वियोग के विक्षोभ से जनित कितनी तरगें हैं? शायद आप गिन नहीं सकते। यह कृष्ण के लिए यशोदा का स्नेह नहीं है, पुत्र के प्रति माता की ममता है जिस की गम्भीर धारा में संसार के सारे सम्बन्ध और स्वार्थ डूब जाते हैं, माँ के हृदय से निकला हुआ वह निश्वास है जो समस्त विश्व को प्राणवान् बनाता है, मातृत्व का अदम्य त्याग है, जिसमें स्वय मिटकर भी पुत्र की कल्याण-कामना की पावन भावना अन्तर्हित है। नन्द के मुख से यद्यपि इतनी विह्वलतापूर्ण उक्तियाँ नहीं निकलतीं, तो क्या उनके हृदय में वियोग का सागर नहीं उमड़ रहा? उनकी वियोगजन्य अधीरता फूटती नहीं, क्योंकि पुरुषत्व का बाध उसे रोके हुए है। हृदय पर पत्थर रखकर वे यशोदा को समझाते हैं। उनके भाव बुद्धि और तर्क से सयत हैं, इसलिए अबाध रूप से उबल नहीं पड़ते।

कृष्ण चले गए, यशोदा को आशा थी कि नन्द के साथ ही कृष्ण

भी लौट आयेंगे। परन्तु कृष्ण ने मथुरा से नन्द को जब यह कह कर विदा कर दिया कि :—

"पुत्र-हेत प्रतिपार कियौ तुम, जैसैं जननी तात।
गोकुल बसत, खेलत, मोहि द्यौस न जान्यौ जात।
होहु विदा, घर जाहु गुसाँई, माने रहियौ नात।"

और नन्द असह्य व्यथा को हृदय में लिए हुए अकेले आते हुए दीख पड़ते हैं तो यशोदा पुत्र-वियोग की तीव्रता के कारण आपे में नहीं रहती। वेदना के आधिक्य के कारण वह इस बात को भूल जाती है कि स्वयं नन्द भी विवश हैं और उनकी भी उसी जैसी दशा है। वह उन्हें भी जी भरकर बुरा भला कहती है :—

"जसुदा कान्ह कान्ह कै बूझै।
फूटि न गइ तुम्हारी चारौं, कैसे मारग सूझै।
इक तौ जरी जात बिनु देखें, अब तुम दीन्हौ फूँकि।
यह छतिया मेरे कान्ह कुँवर बिनु, फटि न भई द्वै टूकि।
धिक् तुम धिक् ये चरन अहौ पति, अध-बोलत उठि धाए।
सूर स्याम बिछुरन की हम पै, दैन बधाई आए।"

यशोदा के ये कटुवचन पति के प्रति पत्नी की धृष्टता नहीं अपितु पुत्र-वियोगिनी माता के हृदय की उस गहरी व्यथा को सूचित करते हैं, जिसमें प्रिय वस्तुएँ भी अप्रिय सी लगती हैं। ये उसकी विक्षिप्त मनोदशा के ध्वनिमय चित्र हैं, जिनमें एक दूसरी से मिलती हुई अनेक भाव रेखाएँ दीख पड़ती हैं, जिनका विश्लेषण करना किसी के वस की बात नहीं।

नन्द को दशरथ के समान पुत्र-वियोग के कारण प्राण त्याग न करने पर यशोदा जो उलाहना देती है, उसी के सदृश उसको सखी का

कृष्ण के बिना घर-आगन गोकुल सब कुछ सूना है। जिस कृष्ण के बिना यशोदा पल भर भी नहीं रह सकती थी उसे वह कैसे वियुक्त कर दें ? चाहे कंस बन्दी बना ले, उसे पर्वाह नहीं, पर वह अपनी आखों के तारे कृष्ण को अलग नहीं करना चाहती, चाहे प्राण ही क्यों न देने पड़ें —

"मेरौ माई निधनी कौ धन माधौ।
बारबार निरखि सुख मानति तजति नहीं पल आधौ।
छिनु छिनु परसति अङ्कम लावति, प्रेम प्रकृत ह्वै बाँधौ।
करिहै कहा अक्रूर हमारौ, दैहैं प्रान अराधौ।
सूर स्यामघन हौं नहि पठवौं, अबहि कस किन बाँधौ।"

'निधनी कौ धन' में कितनी निरीहता और विवशता है ? सन्तोष के शान्त-सागर में पुत्र-वियोग के विक्षोभ से जनित कितनी तरगें हैं ? शायद आप गिन नहीं सकते। यह कृष्ण के लिए यशोदा का स्नेह नहीं है, पुत्र के प्रति माता की ममता है जिस की गम्भीर धारा में संसार के सारे सम्बन्ध और स्वार्थ डूब जाते हैं, माँ के हृदय से निकला हुआ वह निःश्वास है जो समस्त विश्व को प्राणवान् बनाता है, मातृत्व का अदम्य त्याग है, जिसमें स्वय मिटकर भी पुत्र की कल्याण-कामना की पावन भावना अन्तर्हित है। नन्द के मुख से यद्यपि इतनी विह्वलतापूर्ण उक्तियाँ नहीं निकलतीं, तो क्या उनके हृदय में वियोग का सागर नहीं उमड रहा ? उनकी वियोगजन्य अधीरता फूटती नहीं, क्योंकि पुरुषत्व का बाध उसे रोके हुए है। हृदय पर पत्थर रखकर वे यशोदा को समझाते हैं। उनके भाव बुद्धि और तर्क से सयत हैं, इसलिए अबाध रूप से उबल नहीं पडते।

कृष्ण चले गए, यशोदा को आशा थी कि नन्द के साथ ही कृष्ण

भी लौट आयेंगे। परन्तु कृष्ण ने मथुरा से नन्द को जब यह कह कर विदा कर दिया कि —

"पुत्र-हेत प्रतिपार कियौ तुम, जैसैं जननी तात।
गोकुल बसत, खेलत, मोहि द्यौस न जान्यौ जात।
होहु विदा, घर जाहु गुसाँई, माने रहियौ नात।"

और नन्द असह्य व्यथा को हृदय में लिए हुए अकेले आते हुए दीख पड़ते हैं तो यशोदा पुत्र-वियोग की तीव्रता के कारण आपे में नहीं रहती। वेदना के आधिक्य के कारण वह इस बात को भूल जाती है कि स्वयं नन्द भी विवश हैं और उनकी भी उसी जैसी दशा है। वह उन्हें भी जी भरकर बुरा भला कहती है —

"जसुदा कान्ह कान्ह कै बूझै।
फूटि न गइ तुम्हारी चारौं, कैसे मारग सूझै।
इक तौ जरी जात बिनु देखें, अब तुम दीन्हौ फूँकि।
यह छतिया मेरे कान्ह कुँवर बिनु, फटि न भई द्वै टूकि।
धिक् तुम धिक् ये चरन अहौ पति, अध-बोलत उठि धाए।
सूर स्याम बिछुरन की हम पै, दैन बधाई आए।"

यशोदा के ये कटुवचन पति के प्रति पत्नी की धृष्टता नहीं अपितु पुत्र-वियोगिनी माता के हृदय की उस गहरी व्यथा को सूचित करते हैं, जिसमें प्रिय वस्तुएँ भी अप्रिय सी लगती हैं। ये उसकी विक्षिप्त मनोदशा के ध्वनिमय चित्र हैं, जिनमें एक दूसरी से मिलती हुई अनेक भाव रेखाएँ दीख पड़ती हैं, जिनका विश्लेषण करना किसी के बस की बात नहीं।

नन्द को दशरथ के समान पुत्र-वियोग के कारण प्राण त्याग न करने पर यशोदा जो उलाहना देती है, उसी के सदृश उसको सखी का

कृष्ण के बिना घर-आगन गोकुल सब कुछ सूना है। जिस कृष्ण के बिना यशोदा पल भर भी नहीं रह सकती थी उसे वह कैसे वियुक्त कर दें? चाहे कंस बन्दी बना ले, उसे पर्वाह नहीं, पर वह अपनी आंखों के तारे कृष्ण को अलग नहीं करना चाहती, चाहे प्राण ही क्यों न देने पड़ें —

"मेरौ माई निधनी को धन माधौ।
बारवार निरखि सुख मानति तजति नहीं पल आधौ।
छिनु छिनु परसति अङ्कम लावति, प्रेम प्रकृत ह्वै बाँधौ।
करिहै कहा अक्रूर हमारौ, दैहैं प्रान अबाधौ।
सूर स्यामघन हौं नहि पठवौं, अबहि कंस किन बाँधौ।"

'निधनी कौ धन' में कितनी निरीहता और विवशता है? सन्तोष के शान्त-सागर में पुत्र-वियोग के विक्षोभ से जनित कितनी तरगें हैं? शायद आप गिन नहीं सकते। यह कृष्ण के लिए यशोदा का स्नेह नहीं है, पुत्र के प्रति माता की ममता है जिस की गम्भीर धारा में संसार के सारे सम्बन्ध और स्वार्थ डूब जाते हैं, माँ के हृदय से निकला हुआ वह निःश्वास है जो समस्त विश्व को प्राणवान् बनाता है, मातृत्व का अदम्य त्याग है, जिसमें स्वय मिटकर भी पुत्र की कल्याण-कामना की पावन भावना अन्तर्हित है। नन्द के मुख से यद्यपि इतनी विह्वलतापूर्ण उक्तियाँ नहीं निकलतीं, तो क्या उनके हृदय में वियोग का सागर नहीं उमड़ रहा? उनकी वियोगजन्य अधीरता फूटती नहीं, क्योंकि पुरुषत्व का बाध उसे रोके हुए है। हृदय पर पत्थर रखकर वे यशोदा को समझाते हैं। उनके भाव बुद्धि और तर्क से सयत हैं, इसलिए अबाध रूप से उबल नहीं पड़ते।

कृष्ण चले गए, यशोदा को आशा थी कि नन्द के साथ ही कृष्ण

"जद्यपि मन समुझावत लोग ।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग ।
प्रातकाल उठि माखन-रोटी को विनु माँगे देहै ।
को मेरे वा कान्ह कुँवर कौं छिनु-छिनु अंकम लैहै ।"

विप्रलम्भ—

संयोग की अपेक्षा वियोग-शृंगार को साहित्यिकों ने अधिक उच्च स्थान दिया है क्योंकि जहाँ संयोग में प्रिय-सान्निध्य से प्राप्त सुख हृदय की अनेक सात्विक वृत्तियों को तिरोहित किए रहता है, वहाँ वियोग उन्हें उद्बुद्ध कर भावों के प्रसार के लिए समस्त विश्व का क्षेत्र खोल देता है। संयोग में प्रेमी-युगल एकान्त चाहते हैं उन्हें अन्य की सहानुभूति की आवश्यकता नहीं रहती, पर वियोग में उनकी आत्मा का प्रसार हो जाता है और वे प्राणिमात्र के साथ ही नहीं, जड पदार्थों के साथ भी तादात्म्य स्थापित करते हैं। वियोगी व्यक्ति अपनी स्थिति को भूल कर उस सामान्य भाव-भूमि पर आ जाता है, जहाँ से उसकी दृष्टि प्रत्येक छोटी-मोटी वस्तु की सत्ता पर पड़ती है। उसके हृदय की अनुभूति रेचन का साधन न मिलने के कारण घनीभूत और तीव्र होती चली जाती है। समस्त संसार में उसे उसका प्रिय ही दीख पड़ता है। इसी कारण से सहृदय कवियों ने संयोग की अपेक्षा वियोग को ही अधिक पसन्द किया है।

यह वह सात्विक अवस्था है, जिस में मानव-हृदय से दुराव का आवरण हट जाता है और वह अपने स्वाभाविक निर्मल रूप में उक्तियो के साथ लिपटा चला आता है। पशु-पक्षियों और लता-पादपों के साथ भी सम्बन्ध जोड़ने की प्रेरणा देने वाला यह भाव धन्य है। इसी दशा में कालिदास के यक्ष ने अपनी प्रियतमा को सन्देश भेजने के हेतु आषाढ के प्रथम मेघ को रोक लिया। जायसी की रूपगर्विता नागमती ने

यह उलाहना कितना मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक है :—

"सब तू मारिबोई करति।
रिसनि आगें कहि जु आवति, अब लै भाँड़े भरति।
रोस कै कर दाँवरी लै, फिरति घर घर धरति।"

यशोदा को पुत्र वियोग इतना अखर रहा है कि वह व्रज छोड़ कर मथुरा में देवकी और वसुदेव की दासी बनकर रहने को तैयार है। प्रेम में आत्म-विस्मृति की भावना गहरी हो जाती है और मिलन की उत्सुकता का उद्रेक समस्त भावों को तिरोभूत कर देता है—

"हौ तौ माई मथुरा ही पै जैहौं।
दासी ह्वै वसुदेव राइ की, दरसन देखत रैहौं
मोहि देखी कै लोग हँसैगे, अरु किन कान्ह हँसै।
सूर असीस जाइ दैहौं, जनि न्हातहु वार खसै।"

अन्तिम शब्दों में मातृ-हृदय का समूचा वात्सल्य मानो एक बारगी उमड पड़ा है, पुत्र कहीं भी हो, सकुशल रहे, यही माता की कामना होती है। 'जनि न्हातहु वार खसै' का आशीर्वाद सुत के प्रति माता के निःस्वार्थ प्रेम-भाव का सन्देशवाहक है।

पुत्र के प्रिय खाद्य पदार्थों को देखते ही उसकी याद आ जाना स्वाभाविक ही है। माता को यह भी विश्वास नहीं होता कि उसके बिना अन्य कोई उसके पुत्र के खाने-पीने आदि की समुचित व्यवस्था कर सकता है। यह अविश्वास वात्सल्य जनित ही है। कृष्ण राजा हो गए हैं फिर भी यशोदा को चिन्ता है कि उन्हें प्रात काल ही कौन बिना मागे माखन रोटी देता होगा—

मानव-हृदय के भावों का प्रकृति के साथ सभी भारतीय कवियों ने सामञ्जस्य स्थापित किया है। वह मनुष्य के सुख-दुःख में हँसती और रोती हैं। पाश्चात्य आलोचक चाहे इसे 'Pathetic fallacy' कह कर अनुपयुक्त ही मानें, परन्तु जड और चेतन जगत् की एक ही ब्रह्म मे उत्पत्ति मानने वाले भारतीय मनीषी तो उन में अभेद देखते ही हैं। यही कारण है कि वियोगिनी गोपियों को यमुना नदी भी कृष्ण के वियोग-ज्वर से काली पड़ी हुई दीख पड़ती है—

"देखियति कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियौ उन हरि सों, भई विरह जुर जारी।
गिरि-प्रजक तैं गिरति धरनि धँसि तरँग तरफ तन भारी।
तट वारू उपचार चूर, जलपूर प्रस्वेद प्रनारी।
निसि दिन चकई पियजु रटति है, भई मनो अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति, सो गति, भई हमारी।"

परन्तु मधुवन अब भी हरा-भरा खड़ा है। वही मधुवन, जिस ने गोपी-वल्लभ की अगणित क्रीडाओं का साक्षात्कार किया था, जिस के निकुञ्ज कृष्ण की वंशी के मधुर स्वर के साथ कामिनी-कलकण्ठों से निर्गत कोमल ध्वनियों से गूँजते रहते थे, जिस के हृदय मे रासकर्ता मोहन के पदचिह्न आज भी बने हुए हैं, कृष्ण के वियोग में गोपियों का साथी न बना। साथी वही है, जो दु:ख में साथ दें। सुख में तो कोई भी साथ दे सकता है। मधुवन की यही विषमता गोपियों को क्षुब्ध कर देती है और वे उसे कोसने लगती हैं—

"मधुवन तुम क्यों रहे हरे ?
विरह-वियोग स्याम सुन्दर के ठाडे क्यों न जरे।
मोहन वेनु बजावत तुम तर साखा टेकि खरे।

मोहे थावर अरु जड जगम, मुनि-जन-ध्यान टरे ।
वह चितवनि तू मन न धरत है, फिरि फिरि पुहुपु धरे ।
सूरदास प्रभु विरह दवानल नख सिख लौं न जरे ।"

विरह की अवस्था में चित्त स्थिर नहीं रहता। अत एक ही वस्तु कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल दीख पडने लगती है। अभी-अभी जो यमुना गोपियों को अपने ही समान विरह जुर जारी लग रही थी, अब यम के समान लगने लगी— क्योंकि वह गोपियों और कृष्ण के बीच में बाधा बन कर वह रही है। विरह-जन्य-चित्त-विभ्रम के अभिव्यंजन में कवियों ने प्राय ऐसी ही उक्तियों का आश्रय लिया है।

"मो कौ माई जमुना जम ह्वै रही ।
कैसें मिलौं स्याम सुन्दर कौं वैरिनि वीच वही।"

इसी प्रकार चातक भी कभी तो उन्हें जीवनदाता और कभी विरहिणी नारी के रूप में दीख पडता है तो कभी जली हुई को और जलाता हुआ ज्ञात होता है। पी-पी रटने वाला वेचारा चातक स्वय विरह में काला पड गया है। समान दु ख वालों में पारस्परिक सम्वेदना का होना स्वाभाविक ही है। तभी तो गोपियाँ चातक के प्रति स्नेह

तिलमिला जाती हैं और उसकी अदूरदर्शिता पर उसे खोटी-खरी सुनाती हैं—

"हौं तौ मोहन के विरह जुर जरी रे तू कत जारत ।
रे पापी तू पंखि पपीहा पिय पिय करि अधराति पुकारत ।
करि न कछु करतूति सुभट की, मूठि मृतक अवलनि सर मारत ।
रे सठ तू जु सतावत औरनि जानत नहि अपने जिय आरत ।
सब जग सुखी दुःखी तू जल बिनु, तऊ न उर की व्यथा विचारत ।
सूर स्याम बिनु व्रज पर बोलत, काहें अगिलौ जनम बिगारत ।"

जो नैन प्रेम के प्रवर्त्तक थे, जिन के उत्पात के कारण गोपियाँ कृष्ण के प्रेम-पाश में बद्ध हुईं, उनकी भी वियोग में सावन-भादों की मेघ-घटाओं के समान दशा हो गई। मेघ तो कुछ देर के लिए रुक भी जाते हैं पर गोपियों के नैन निशिदिन बरसते हैं—

"निसि दिन बरसत नैन हमारे ।
सदा रहति बरषा रितु हम पर, जब तैं स्याम सिधारे ।"

तभी तो इन नैनों से बादल भी हार गए—

"सखी इन नैननि तैं घन हारे ।
बिनहीं रितु बरसत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे ।"

सूर का विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ है। भ्रमर गीत में गोपियों के तर्क के सामने उद्धव भले ही कुछ उत्तर दे सके, पर उनके प्रेम विह्वल अटपटे वचनों से उन्हें भी हार माननी पड़ी। उनकी प्रेम-रस-धारा में उद्धव के ज्ञान की गुरु-गठरी न जाने कहाँ बह गई ? इस प्रसंग में गोपियो की अन्तर्दशा का जैसा वर्णन सूर ने किया है, अन्यत्र दुर्लभ है।

मोहे थावर अरु जड़ जंगम, मुनि-जन-ध्यान टरे ।
वह चितवनि तू मन न धरत है, फिरि फिरि पुहुपु धरे ।
सूरदास प्रभु विरह दवानल नख सिख लौं न जरे ।"

विरह की अवस्था में चित्त स्थिर नहीं रहता। अत एक ही वस्तु कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल दीख पड़ने लगती है। अभी अभी जो यमुना गोपियो को अपने ही समान विरह जुर जारी लग रही थी, अब यम के समान लगने लगी— क्योंकि वह गोपियों और कृष्ण के बीच में बाधा बन कर बह रही है। विरह-जन्य-चित्त-विभ्रम के अभि-व्यजन में कवियों ने प्राय ऐसी ही उक्तियों का आश्रय लिया है।

"मो कौं माई जमुना जम ह्वै रही ।
कैसें मिलौं स्याम सुन्दर कौं बैरिनि बीच बही।"

इसी प्रकार चातक भी कभी तो उन्हे जीवनदाता और कभी विरहिणी नारी के रूप में दीख पडता है तो कभी जली हुई को और जलाता हुआ ज्ञात होता है। पी-पी रटने वाला बेचारा चातक स्वय विरह में काला पड गया है। समान दु ख वालों में पारस्परिक सम्वेदना का होना स्वाभाविक ही है। तभी तो गोपियाँ चातक के प्रति स्नेह प्रदर्शित करती हैं—

"बहुत दिन जीवौ पपिहा प्यारौ ।
बासर रैनि नाम लै बोलत, भयौ बिरह जुर कारौ ।
आपु दु खित पर दु खित जानि जिय, चातक नाम तुम्हारौ ।
सूरदास प्रभु स्वांति बूंद लगि, तज्यौ सिन्धु करि खारौ ।"

और कभी-कभी उसकी उद्दीपक 'पी पी' की वाणी को सुन कर वे

तिलमिला जाती हैं और उसकी अदूरदर्शिता पर उसे खोटी-खरी सुनाती हैं—

"हौं तौ मोहन के विरह जुर जरी रे तू कत जारत ।
रे पापी तू पंखि पपीहा पिय पिय करि अधराति पुकारत ।
करि न कछु करतूति सुभट की, मूठि मृतक अवलनि सर मारत ।
रे सठ तू जु सतावत औरनि जानत नहि अपने जिय आरत ।
सब जग सुखी दुःखी तू जल विनु, तऊ न उर की व्यथा विचारत ।
सूर स्याम विनु व्रज पर बोलत, काहें अगिलौ जनम विगारत ।"

जो नैन प्रेम के प्रवर्त्तक थे, जिन के उत्पात के कारण गोपियाँ कृष्ण के प्रेम-पाश में बद्ध हुईं, उनकी भी वियोग में सावन-भादों की मेघ-घटाओं के समान दशा हो गई । मेघ तो कुछ देर के लिए रुक भी जाते हैं पर गोपियों के नैन निशिदिन वरसते हैं—

"निसि दिन बरसत नैन हमारे ।
सदा रहाते वरषा रितु हम पर, जब तैं स्याम सिधारे ।"

तभी तो इन नैनों से बादल भी हार गए—

"सखी इन नैननि तैं घन हारे ।
विनहीं रितु वरसत निसि वासर, सदा मलिन दोउ तारे ।"

सूर का विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य में वेजोड है । भ्रमर गीत में गोपियों के तर्क के सामने उद्धव भले ही कुछ उत्तर दे सके, पर उनके प्रेम विह्वल अटपटे वचनों से उन्हें भी हार माननी पड़ी । उनकी प्रेम-रस-धारा में उद्धव के ज्ञान की गुरु-गठरी न जाने कहाँ बह गई ? इस प्रसंग में गोपियों की अन्तर्दशा का जैसा वर्णन सूर ने किया है, अन्यत्र दुर्लभ है ।

कंस का निमंत्रण प्राप्त कर कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा चले गए। वहाँ कंस का बध कर उन्होंने उग्रसेन को राज्य दिया। कंस की दासी कुब्जा का प्रेम-भाव देख कर उस पर कृपा-दृष्टि की और मथुरा में ऐसे रमे कि ब्रज लौटे ही नहीं। इधर जब ब्रजवासियों की कृष्ण के वियोग में बुरी दशा हो गई तो कृष्ण ने अद्वैत का राग अलापने वाले ज्ञानी उद्धव को गोपियों को समझाने के लिए भेजा और उन्हें योग-साधना का सन्देश दिया। उद्धव को योग-सन्देश-वाहक के रूप में भेजने का विशेष कारण था। उन्हें अपने ज्ञान का बड़ा अहंकार था, वे भगवान् कृष्ण के प्रिय थे। भला भगवान् अपने प्रिय को अहंकार जैसे घातक शत्रु से आक्रान्त कैसे देख सकते थे। बस उन्होंने उसको दूर करने के प्रयोजन से उन्हें गोपियों के समीप भेज दिया। उद्धव ने कृष्ण का सन्देश और पाती गोपियों को दी—

"कह्यौ तुमकौं ब्रह्म ध्यावन, छाँडि विषय-विकार।
सूर पाति दई लिखि मोहि, पढ़ौ गोपकुमारि।"

प्रिय-प्रेषित वस्तु के दर्शन से हृदय में प्रेम का अन्तःस्रोत फूट पड़ता है और वियोगावस्था में घनीभूत अनुभूति सात्विक भावों के रूप में विकास पाती है। कृष्ण की पत्रिका को प्राप्त कर गोपिया निहाल हो जाती हैं और प्रेम के अतिशय सञ्चार के कारण उद्धव की पहली बात (कह्यौ तुमकौं ब्रह्म ध्यावन) को भूल ही जाती हैं। कृष्ण की पाती उनके लिए अपूर्व सम्पत्ति है, जिसे प्राप्त कर वे फूली नहीं समातीं। भवसागर का मंथन करने वाले सूर ने गोपियों की इस मानसिक दशा की अभिव्यक्ति के लिए कैसे प्रभावपूर्ण अनुभवों की कल्पना की है—

"निरखति अंक स्याम सुन्दर के बार बार लावती छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम की पाती।"

योग के उपदेश द्वारा उद्धव गोपियों के हृदय से कृष्ण की स्मृति को भी निकालना चाहते हैं। प्रिय से सम्बन्ध-विच्छेद कराने की चेष्टा करने वाले व्यक्ति के प्रति झल्लाहट उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है चाहे वह प्रिय का कितना ही प्रिय क्यों न हो। उद्धव के कृष्ण का त्याग और निर्गुण की उपासना करने वाले उपदेश को सुनकर गोपियाँ झुँझला उठीं। इस झुँझलाहट को व्यक्त करने के लिए सूरदास ने एक भ्रमर की कल्पना की, जो उड़ता हुआ गोपियों और उद्धव के निकट जा निकला। फिर तो गोपियों ने भ्रमर के बहाने उद्धव पर खूब व्यंग्य-बाणों की वर्षा की। भला उन्हें निर्गुण से क्या लेना? उनके कृष्ण सलामत चाहिएं—

"रहु रे मधुकर मधु मतवारे।
कौन काज या निरगुन सौं चिर जीवहु कान्ह हमारे।"

अन्तिम शब्दों में मानो गोपियो का चिरसञ्चित प्रेम मुखरित हो उठता है। प्रेम की उच्च अनुभूति में स्वार्थ, वासना आदि की गन्ध तक नहीं रहती, केवल प्रिय के हित की कामना होती है, वह चाहे जितना निष्ठुर हो, चाहे जितना अन्याय करे, चाहे सुधि तक न ले, परन्तु प्रेमी यही चाहता है—

'जहाँ रहौ तहँ कोटि वरप लगि जियौ स्याम सुख सौं हीं'

वियोग की अनुभूति भी विचित्र होती है। जहाँ तक एक ओर गोपियों का नारी-हृदय सौतिया डाहवश मुरली और कुब्जा को उपालम्भ देता हुआ नहीं थकता, वहाँ प्रिय की ममता उनसे यह भी कहला देती है।—

'व्याहौ लाख धरौ दस कुबरी अन्तहि कान्ह हमारौ।'

गोपियों के द्वारा प्रेममार्ग को ही अपनाए रहने का आग्रह पाकर

भी उद्धव योग-योग ही गाये चले जाते हैं तो उन्हें कुछ और झुँझलाहट आ जाती है। वे उद्धव को सलाह देती हैं कि कदाचित् तुम्हें सन्निपात हो गया है। पहले उसका उपाय तो कर लो, पीछे ही किसी को उपदेश देने का कष्ट करना —

"समुझि न परति तिहारी ऊधौ।
ज्यौं त्रिदोष उपजें जक लागत, वोलत वचन न सूधौ।
आपुन कौ उपचार करौ अति, तब औरनि सिख देहु।
बडौ रोग उपज्यौ है तुमकौं भवन सवारें लेहु।"

शुष्क योग की बातें सुनते-सुनते और उद्धव को बनाते-बनाते कृष्ण की स्मृति पुन उनके प्रेम को उद्‌बुद्ध कर देती है और वे कृष्ण-दर्शन के लिए भटकती हुई आखों की दयनीय दशा का मर्मस्पर्शी चित्रण करती हैं। कृष्ण ने उन्हें भुला दिया, यह कितनी विडम्बना है ?—

"वे हरि वातें क्यों विसरी ?
आवत राधा पथ चरन-रज हित सौं अङ्क भरी।
भाति-भाति किसलय कुसुमावलि, सेज्या सोभ करी।
सुरति स्रमित स्यामा रस-रजित सोवति रग भरी।
आपुन कुसुम-व्यजन कर लीन्हे, करत मस्त लहरी।
गो-चारण मिस जात सघन वन, मुरली अधर धरी।
नाद-प्रनालि प्रवेश घोष मैं, रिझवत तिय सिगरी॥"

अभी-अभी जो गोपियाँ कृष्ण और उद्धव को खरी-खोटी सुना रही थीं सयोग-घटनाओं की स्मृति में उद्दीप्त वियोग-सताप में उनकी दशा कितनी शोचनीय हो गई है ! वे दीनतापूर्वक कृष्ण के दर्शन की याचना करती हैं। उन्हें और कुछ अभीष्ट नहीं —

"ऊधौ हमरौ दोष नहिं कछू, वै प्रभु निपट कठोर।
हम हरिनाम जपति हैं निसदिन, जैसैं चंद-चकोर।
हम दासी विन मोल की ऊधो, ज्यौं गुड़िया विनु डोर।
सूरदास प्रभु दरसन दीजे, नाहीं मनसा और।"

अतीत की मधुर स्मृति से विह्वल गोपिकाओं के मानस से विप्रलम्भ रस की जो निर्मल धारा वही, उसमें उद्धव के ज्ञान का अहङ्कार-मैल धुल गया। गोपियो को कुछ नही सुहाता। जिसे प्रेम-वाण की कठिन चोट लगी ही नहीं, वह उनका दुःख-दर्द क्या जाने? अन्धे के आगे रोने से क्या लाभ? उद्धव से प्रेम-कथा का कहना घास काटना है, फिर भी उन का हृदय अपनी व्यथा को उँडेल कर हल्का होना चाहता है। वे अनेक प्रकार से अपनी दीनदशा का वर्णन करती हैं और अन्त में उद्धव के हाथ कृष्ण को अपनी पत्रिका और सन्देश भेजती हैं—

"ऊधौ इक पतिया हमारी लीजै।
चरनि लागि गोविन्द सौं कहियौ, लिखौ हमारौ दीजै।
हम तौ कौन रूप गुन आगरि, जिहिं गुपाल जू रीझै।
निरखत नैन नीर भरि आए, अरु कंचुकि पट भीजै।
तलफत रहति मीन चातक ज्यौं जल विनु तृषा न छीजै।
अति व्याकुल अकुलाति विरहिनी, सुरति हमारी कीजै।
अँखियाँ खरी निहारति मधुवन, हरि विनु व्रज विष पीजैं।
सूरदास प्रभु कवहि मिलेंगे, देखि देखि मुख जीजैं।"

उनकी अभिलाषा यही है कि कृष्ण उन्हें याद करते रहें। नैराश्य-पूर्ण प्रेमी हृदय के सन्तोष का यह कितना सूक्ष्म और दृढ आधार है। यद्यपि प्रेमी के लिए प्रिय का वियोग असह्य होता है और वह सर्वदा उसे अपने साथ देखना चाहता है परन्तु स्वय दु.ख झेल कर भी वह प्रिय को दुःखी देखना नही चाहता। यदि कहीं दुःखमय स्थान पर उसे रहना

पढे तो वह अकेला रह कर वियोग जनित असह्य सन्ताप को सहने के लिए तैयार हो जाता है किन्तु अपने प्रिय को उस स्थान के दुःखो में डालना नहीं चाहता। गोपियाँ कृष्ण के दर्शन के लिए तड़पती हैं परन्तु फिर भी यह नहीं चाहतीं कि वे वियोगी व्रज की विषम परिस्थिति से उद्भूत दुःख में पड़ें।—

"ऊधौ इतनी जाइ कहौ।
सबै विरहिनी पा लागति हैं, मथुरा कान्ह रहौ॥
भूलिहुँ जनि आवहु इहिं गोकुल तपति तरनि ज्यौं चन्द।
सुन्दर वदन स्याम कोमल तन क्यौं सहि हैं नँदनद।

सूर के वियोग-वर्णन की पूर्णता देखे ही बन पडती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सम्मति है—'वियोग की जितनी अन्तर्दशायें हो सकती हैं, जितने ढगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यत हो सकता है, वे सब उसके भीतर मौजूद हैं।' रीति-आचार्यों ने विरह की ग्यारह अवस्थाओं का उल्लेख किया है—

(१) अभिलाषा (२) चिन्ता (३) स्मरण (४) गुण-कथन (५) उद्वेग (६) प्रलाप (७) उन्माद (८) व्याधि (९) जडता (१०) मूर्च्छा और (११) मरण। सूर के अनेक पदों में इन अवस्थाओं का वर्णन हुआ है।

भ्रमर-गीत सूर की सर्व-श्रेष्ठ रचना है, इसमें एक ओर विप्रलंभ शृंगार की उद्दाम सरिता का अवाध प्रवाह व्रजनारियों के नयनाम्बु से पूरित होकर उमड़ता हुआ पाठक की मनोभूमि को आप्लावित करता चलता है और दूसरी ओर सगुण-भक्ति का निर्झर ऊँची-नीची और समतल भाव-भूमि में योग-मार्ग की कठोर प्रस्तर शिलाओं को तोड़ता और निर्गुण उपासना के घास-फूँस को आत्मसात् करता हुआ प्रवाहित होता है। गोपियों के

भक्ति-भाव एवं विश्वास से पुष्ट सरस तर्कों की झञ्झा में उद्धव की निर्गुण साधना का शुष्क भुस कहीं का कहीं उड़ गया। यद्यपि भ्रमर-गीत का दार्शनिक पहलू भी है। विरह-विधुरा गोपियां परमात्मा से वियुक्त आत्मा की प्रतीक कही जा सकती हैं, तथापि प्रेम का लौकिक पक्ष ही उसमें अधिक उभरा हुआ प्रतीत होता है। सूर की गोपियां मिलन ही नहीं उसका उपभोगमय उपयोग भी चाहती हैं।

प्रकृति-चित्रण—

सूरदास के उपास्य कृष्ण ब्रज-भूमि में अवतरित हुए थे। उनका व्यक्तित्व प्रकृति की ही ओट मे विकसित हुआ और प्रकृति का उन्मुक्त क्षेत्र ही उनकी बाल-लीलाओं और किशोर-केलियों का रङ्गस्थल बना। उनके लोकोपकारी कार्यों की कर्म-भूमि भी प्रकृति ही रही। वन मे गोचारण करते हुए गिरिधर ने यहीं विकट असुरों का वध कर जनता के आतङ्क को दूर किया। राधा और कृष्ण के प्रथम मिलन का दृश्य आज भी यमुना की आँखों में घूम रहा है। प्रेमालाप और रति-क्रीडाओं से मुखरित कुञ्ज अब भी रासलीला की अपूर्वता की गवाही दे रहे हैं और कृष्ण के स्पर्श से पुलकित और संकेत से पूजित गोवर्द्धन आज भी पूजा जा रहा है। यमुना का पवित्र प्रवाह, कदम्ब वृक्षों का कमनीय कानन, करील के कल निकुञ्ज और कालिंदी-कछार में फैले हुए लता-पादप अपनी मनो-मुग्धकारी छटा से आकृष्ट कर ही लेते हैं। फिर कृष्ण की सम्बन्ध-भावना के कारण तो उनमें लोकोत्तर सौन्दर्य और चेतना का भी समावेश हो गया है, जिस से नट नागर लीलाओं की गान कर वे हमारे हृदय को भक्ति-भाव से विभोर कर देते हैं। इसी भावना के वशीभूत होकर 'करील की कुञ्जों के ऊपर कोटिक हू कलधौत के धाम' वारने वाले रसखान तो पक्षी, पशु और पत्थर तक बनने के लिए तैयार थे, यदि उन्हें कालिन्दी-कूल-कदम्ब की डालियों पर नन्द की धेनुओं के मध्य में और

गोवर्द्धन पर्वत के अञ्चल में बसेरा लेने, चरने और पडे रहने की छूट दे दी जाती, फिर व्रजभूमि तो सूर की अपनी ही जन्म भूमि थी। उन के शरीर के एक-एक परमाणु में यहीं के तत्त्व व्याप्त थे। इस 'स्वर्गादपि गरीयसी' भूमि के प्रति सूर का अनन्य प्रेम स्वाभाविक ही है —

"कहाँ सुख व्रज कौ सौ ससार।
कहाँ सुखद बसी बट जमुना, यह मन सदा विचार।
कहँ बन धाम कहाँ राधा सँग, कहाँ सग व्रज वाम।
कहँ रस-रास बीच अन्तर सुख, कहाँ नारि तन ताम।
कहाँ लता तरु-तरु प्रतिवूझनि, कुञ्ज-कुञ्ज बन धाम।
कहाँ विरह सुख बिनु गोपिन सँग, सूर स्याम मन काम।"

सूर के पात्र प्रकृतिमय हैं। उनके हृदय का अध्ययन सूर द्वारा उपस्थित प्रकृति-चित्रपटों के सहारे भली भाति किया जा सकता है। साहचर्य के कारण उनका प्रकृति के साथ ऐसा तादात्म्य हो गया है कि किसी भी घटना व्यापार की प्रतिक्रिया पहले किस पर हुई और बाद में किस पर, यह बताना बड़ा ही कठिन है। कृष्ण के वियोग में गोपियों की भाति प्रकृति भी पूर्ण वियोग का अनुभव करती है और संयोग में पूर्ण सयोग का। ऐसी स्थिति में सूर काव्य में असम्बद्ध प्रकृति-चित्रण की खोज करना मानव और प्रकृति के भावात्मक-मिलन को चुनौती देना ही है। उनके पात्रो की मनोदशाओ के वर्णन में प्रकृति के विभिन्न रूपों और व्यापारों का अनायास ही समावेश हो गया है। हाँ बीच-बीच में आलम्बन रूप में भी प्रकृति-चित्रण की झलक दिखाई दे जाती है। प्रात काल का स्वाभाविक वर्णन देखिए—

"बोले तमचुर, चारयौ जाम कौ गजर मारयौ,
पौन भयौ सीतल तमि तैं तमता गई।

प्राची अरुनानी, भानु किरन उज्यारी नभ छाई,
उडुगन चन्द्रमा मलीनता लई।
मुकुले कमल, वच्छ-बन्धन विछोह्यौ ग्वाल,
चरैं चली गाइ, द्विज तैंती कर कौं दई।
'सूरदास' राधिका सरस बानी बोलि कहै,
जागो प्रान प्यारे जू सवारे की समै भई।
चिरई चुहचुहानी, चाँद की ज्योति परानी,
रजनी बिहानी, प्राची पियरी प्रवान की।
तारिका दुरानी, तम घट्यौ, तमचुर बोले,
स्रवन भनक परी ललिता के तान की।
भृंग मिले भारजा, बिछुरी जोरी कोक मिले,
उतरी पनच अब काम के कमान की।
अथवत आए गृह, बहुरि उवत भानु,
उठो प्राणनाथ महा जान मनि जानकी॥"

रात्रि भर कुञ्ज-सुखानुभव करने के पश्चात् प्रात:काल होता हुआ देखकर गुरुजन-भय से घर जाने के लिए संकेत करती हुई राधा की कृष्ण के प्रति इस उक्ति का किसी न किसी रूप में शृंगार से ही सम्बन्ध है, परन्तु निम्नलिखित पद में प्रात.काल का वर्णन बिल्कुल शुद्ध रूप मे हुआ है —

"जागिए, व्रजराज कुँवर, कमल-कुसुम फूले।
कुमुद-वृन्द संकुचित भए, भृंग लता भूले।
तमचुर खग-रोर सुनहु, बोलत बनराई।
राँभति गो खरिकनि में, बछरा हित धाई।
विधु मलीन, रवि प्रकास, गावत नर नारी।
'सूर' स्याम प्रात उठौ, अम्बुज कर धारी॥"

सूरदास जी ने अपने भावों के अनुकूल प्रकृति के कोमल रूपों को ही प्राय ग्रहण किया है। लीलापुरुषोत्तम की प्रणय-लीलाओं का साक्षात्कार करने वाले नेत्र प्रकृति के रौद्ररूप के दर्शन करना कैसे पसंद करें ? फिर भी अवसर के अनुकूल जहाँ कहीं उन्होंने प्रकृति के उग्ररूप का चित्रण किया है, वहाँ वे पूर्णरूपेण सफल हुए हैं और अपने काव्य में आलम्बन रूप में प्रकृति-वर्णन के अभाव की शिकायत को दूर कर सके हैं। दावानल के चित्रण का एक ही उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि कर देगा —

"भहरात झहरात दवा (नल) आयौ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अन्दोर वन, धरनि आकास चहुँ पास छायौ।
वरत वनबाँस, थरहरत कुसकाँस जरि, उडत है भाँस अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपट, फूल-फल चटचटकि, फटत लट लटकि द्रुम द्रुम नवायौ।
अति अगिनि-झार, भभार, धुधार करि, उचटि अगार झंझार छायौ।
वरत वन पात, भहरात झहरात अररात तरु महा, धरनी गिरायौ।"

वन के बाँसो के जलने, कुश और काँस के जल कर क्षार हो कर उडने, लपटों के झपटने, फूल-फलों के चटक-चटक कर फटने, वृक्षों के झुलस कर लटक जाने, ज्वाला के फैलने, अँगारों के उचटने और धुआँ छा जाने के व्यापारों के वर्णन ने दावानल का साक्षात् चित्र उपस्थित कर दिया है, जिस में विभिन्न वर्णों का अनुप्रास वन-दहन क्रिया में होने वाले वास्तविक घोष का अनुकरण करता हुआ नादात्मक सौन्दर्य द्वारा गति और सजीवता भर रहा है।

रहस्यानुभूति-विषयक प्रकृति-चित्रण भी सूर के कुछ पदों में मिल जाता है—

"चलि सखि, तिहिं सरोवर जाहिं।
जिहिं सरोवर कमल कमला, रवि विना विकसाहि।

हँस उज्जल पंख निर्मल, अंग मलि मलि न्हाहिं।
मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहाँ चुनि-चुनि खाहिं।
अतिहिं मगन महा मधुर रस, रस न मध्य समाहि।
पदुम-बास सुगंध-सीतल, लेत पाप नसाहिं।
सदा प्रफुलित रहैं जल बिनु, निमिष नहि कुम्हिलाहिं।
सघन गुंजत बैठि उन पर, भौंरहू बिरमाहि।"

वस्तुतः सूर के प्रकृति वर्णन का महत्त्व उद्दीपन रूप में सर्वाधिक है। व्रज-भूमि की मोदमयी गोद में खेलते हुए राधा और कृष्ण के हृदय में जो पारस्परिक स्नेह का अंकुर फूटा, उसे व्रज की प्रकृति ने अपनी सरसता से पल्लवित और पुष्पित किया फिर उस से जो आनन्दमय प्रेम-भक्ति-सौरभ उड़ा, वह सांसारिक विषयों के कटु रस में बहते हुए जनमन-मधुपों को प्रेरणा देकर सच्चे आनन्द रस का आस्वादन करा सका। चतुर सखी की भांति प्रकृति राधा और कृष्ण के मिलन के लिए उनके प्रेमभाव को उद्दीप्त करने के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करती है। शरद् ऋतु की चाँदनी वृन्दावन के श्री-कुञ्ज में छिटक कर रास का निमन्त्रण दे रही है—

सरद चाँदनी रजनी सोहै, वृन्दावन श्रीकुञ्ज।
प्रफुलित सुमन विविध-रंग जहँ-तहँ कूजत कोकिल पुञ्ज।
जमुना पुलिन स्याम घन सुन्दर, अद्भुत रास उपायौ।
×　　×　　×　　×
आजु निसि सोभित सरद सुहाई।
सीतल मंद सुगन्ध पवन बहै रोम रोम सुखदाई।
जमुना पुलिन पुनीत परम रुचि, रचि मण्डली बनाई।

राधा और कृष्ण के प्रथम मिलन के समय ही प्रकृति अपने कामोद्दीपन कर्त्तव्य को उचित रूप से पूरा करती है और देखते ही देखते गगन

सूरदास जी ने अपने भावों के अनुकूल प्रकृति के कोमल रूपों को ही प्राय ग्रहण किया है। लीलापुरुषोत्तम की प्रणय-लीलाओं का साक्षात्कार करने वाले नेत्र प्रकृति के रौद्ररूप के दर्शन करना कैसे पसंद करें? फिर भी अवसर के अनुकूल जहाँ कहीं उन्होंने प्रकृति के उग्ररूप का चित्रण किया है, वहाँ वे पूर्णरूपेण सफल हुए हैं और अपने काव्य में आलम्बन रूप में प्रकृति-वर्णन के अभाव की शिकायत को दूर कर सके हैं। दावानल के चित्रण का एक ही उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि कर देगा —

"भहरात झहरात दवा (नल) आयौ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अन्दोर वन, धरनि आकास चहुँ पास छायौ।
वरत वनवाँस, थरहरत कुसकाँस जरि, उड़त है भाँस अति प्रवल धायौ।
झपटि झपटत लपट, फूल-फल चटचटकि, फटत लट लटकि द्रुम द्रुम नवायौ।
अति अगिनि-झार, भभार, धुधार करि, उचटि अगार भम्भार छायौ।
वरत वन पात, भहरात भहरात अररात तरु महा, धरनी गिरायौ।"

वन के बाँसों के जलने, कुश और काँस के जल कर क्षार हो कर उड़ने, लपटों के झपटने, फूल-फलों के चटक-चटक कर फटने, वृक्षों के झुलस कर लटक जाने, ज्वाला के फैलने, अँगारों के उचटने और धुआँ छा जाने के व्यापारों के वर्णन ने दावानल का साक्षात् चित्र उपस्थित कर दिया है, जिस में विभिन्न वर्णों का अनुप्रास वन-दहन क्रिया में होने वाले वास्तविक घोष का अनुकरण करता हुआ नादात्मक सौन्दर्य द्वारा गति और सजीवता भर रहा है।

रहस्यानुभूति-विषयक प्रकृति-चित्रण भी सूर के कुछ पदों में मिल जाता है—

"चलि सखि, तिहिं सरोवर जाहिं।
जिहिं सरोवर कमल कमला, रवि विना विकसाहिं।

हँस उज्जल पंख निर्मल, अंग मलि मलि न्हाहि।
मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहाँ चुनि-चुनि खाहि।
अतिहिं मगन महा मधुर रस, रस न मध्य समाहि।
पदुम-वास सुगंध-सीतल, लेत पाप नसाहिं।
सदा प्रफुलित रहैं जल बिनु, निमिप नहिं कुम्हिलाहिं।
सघन गुंजत बैठि उन पर, भौंरहू बिरमाहि।'

वस्तुतः सूर के प्रकृति वर्णन का महत्त्व उद्दीपन रूप में सर्वाधिक है। ब्रज-भूमि की मोदमयी गोद में खेलते हुए राधा और कृष्ण के हृदय में जो पारस्परिक स्नेह का अंकुर फूटा, उसे ब्रज की प्रकृति ने अपनी सरसता से पल्लवित और पुष्पित किया फिर उस से जो आनन्दमय प्रेम-भक्ति-सौरभ उड़ा, वह सांसारिक विषयों के कटु रस में बहते हुए जनमन-मधुपों को प्रेरणा देकर सच्चे आनन्द रस का आस्वादन करा सका। चतुर सखी की भांति प्रकृति राधा और कृष्ण के मिलन के लिए उनके प्रेमभाव को उद्दीप्त करने के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करती है। शरद ऋतु की चाँदनी वृन्दावन के श्री-कुञ्ज मे छिटक कर रास का निमन्त्रण दे रही है—

सरद चाँदनी रजनी सोहै, वृन्दावन श्रीकुञ्ज।
प्रफुलित सुमन विविध-रंग जहँ-तहँ कूजत कोकिल पुञ्ज।
जमुना पुलिन स्याम घन सुन्दर, अद्भुत रास उपायौ।
× × × ×
आजु निसि सोभित सरद सुहाई।
सीतल मंद सुगन्ध पवन बहै रोम रोम सुखदाई।
जमुना पुलिन पुनीत परम रुचि, रचि मण्डली बनाई।

राधा और कृष्ण के प्रथम मिलन के समय ही प्रकृति अपने कामोद्दीपन कर्त्तव्य को उचित रूप से पूरा करती है और देखते ही देखते गगन

घहरा उठता है, काली घटाएँ छा गईं, पवन झकोरे लेने लगा, चपला चमकने लगी, आकाश श्यामवर्ण हो गया, दोनों रोमाचित हो गए, काम जाग उठा, और फिर तो—

"नयौ नेह, नयौ गेह, नयौ रस, नवल कुँवरि वृषभानु-किशोरी।
नयौ पिताम्बर, नई चूनरी, नई नई बूँदनि भीजति गोरी।
नये कुञ्ज, अति पुञ्ज नए द्रुम, सुभग जमुन-जल पवन हिलोरी।
'सूरदास' प्रभु नव रस विलसत, नवल राधिका जोवन भोरी।"

नवल वृषभानु किशोरी ही नहीं, नई-नई बूंदों, नवीन कुञ्जों और नए द्रुम-पुञ्जों से सजी हुई प्रकृति रस-विलास कर रही है।

सयोग की भाति वियोग में भी प्रकृति भावोद्दीपक का कार्य करती है। प्रिय के साथ में उद्दीपन-पदार्थ भावों का उत्कर्ष कर सुखदायी बनते हैं, किन्तु वियोग में उनके द्वारा उद्दीप्त हुए भावों का आलम्बन के समक्ष न होने के कारण प्रणय-चेष्टाओं द्वारा रेचन सभव नहीं होता। अतएव वियोगी हृदय भार का अनुभव करता हुआ व्यग्र हो उठता है और उसे वे ही सुखदायी पदार्थ दाहक प्रतीत होने लगते हैं। वही वर्षा ऋतु, जो सयोग-केलियों में चक्षुओं में रस उँडल देती थी, कृष्ण के वियोग में गोपियो के नयनों से झर लगा देती है। बादल क्या हैं, मानो मदन के हाथी हैं, जिन्होंने बन्धनों की अवहेलना कर विरहिणी बालाओ पर चढ़ाई ही कर दी है—

"देखियत चहुँ दिसि तैं घन घोरे।
मानो मत्त मदन के हथियनी बल करि बन्धन' तोरे।
स्याम सुभग तन चुवत गंडमद बरषत थोरे थोरे।

रुकत न पवन महावत हू पै मुरत न अंकुस मोरे।
मनो निकसि वग-पंक्ति दंत, उर-अवधि-सरोवर फोरे।
विनु वेला वल निकसि नयन जल कुच कंचुकि वद वोरे।
तव तिहि समय आनि ऐरापति, व्रजपति सौं कर जोरे।
अव सुनि 'सूर' कान्ह-केहरि विनु गरत गात जस ओरे।

कामदेव के इन भयानक हाथियों के आक्रमण को देखकर प्रलयमेघों से रक्षा करने वाले व्रजपति गिरधर की याद आना स्वाभाविक ही है। दादुर, मोर और कोकिला बोलते हैं, सघन बादल छा गए हैं, दामिनी और इन्द्रधनुष काम का शृंगार कर रहे हैं, ऐसे में हरि को यह सन्देश कौन सुनावे? यदि कृपा करके वे दर्शन दे तो गोपियों को सुख मिले। सावन का महीना आ गया, सरोवर जल से भर गए और मोहन के आने का मार्ग भी बन्द हो गया, सावन के दिन कैसे कटें? वे तो रावण के सिर ही हो गए हैं:—

"कैसे कै भरिहैं री दिन सावन के।
हरति भूमि भरे सलिल सरोवर, मिटे मग मोहन आवन के।
दादुर मोर सोर चातक पिक, सुही निसा गिरावन के।
गरज चहूँ घन घुमड़ी दामिनी, मदन धनुष धर धावन के।
पहिरि कुसुम सारी कंचुकि तन, मुंडनी-मुंडनी गावन के।
'सूरदास' प्रभु दुसह घटत क्यों सोक त्रिगुन सिर रावन के॥"

शरद् की पीयूष-वर्षिणी निशा जो कभी रास-रस आस्वादन करती थी, आज आग सी वन गई है, जो आँसुओं की अविरल धारा से शान्त ही नहीं होती और भी भड़क उठती है। इधर श्याम रासलीला को भूल गए, यह बात व्रज-युवतियों को वहुत ही चुभ रही है :—

"गोविन्द विनु कौन हरै नैननि की जरनि।
सरद निसा अनल भई, चन्द भयौ तरनि।
तन में सन्ताप भयौ, दुरयौ आनन्द घरनि।
प्रेम पुलक वार-वार, अँसुअन की ढरनि।
वै दिन जौ सुरति करौं, पाइनि की परनि।
सूर स्याम क्यौं विसारी, लीला वन करनि॥"

वर्षा और शरद् ही नहीं, सभी ऋतु व्रज में कुछ और ही वन गई हैं —

"सर्व रितु और लागति आहि।
सुनि सखि वा व्रजराज विना सव, फीकौ लागत चाहि।
वै घन देखि नैन वरषत है, पावस भए सिरात।
"सरद सनेह सँचै सरिता उर, मारग ह्वै जल जात।
हिम हिमकर देखत उपजत अति, निसा रहति इहि जोग।
सिसिर विकल काँपत जु कमल उर, सुमिरि स्याम रस भोग।
निरखि बसत विरह वेली तन, वे सुख दुख ह्वै फूलत।
ग्रीषम काम निमिष छाँडत नहिं, देह दसा सव भूलत।
पट् ऋतु ह्वै इक ठाम कियौ तनु, उठे त्रिदोष जुरे।
सूर अवधि उपचार आजु लौं, राखे प्रान जुरे।"

"सूर का यह प्रकृति-वर्णन उद्दीपन रूप में होता हुआ भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह किसी दिलचले रूप लिप्सु के शोर करते हुए दिल की दास्तान नहीं, घनश्याम के रस से वंचित आधारहीन व्रजबाला-वल्लरियों के मुरझा कर गिरने का इतिहास है, कलेजे में सैकड़ों घावों को लिए हुए फिरने वालों का असम्बद्ध प्रलाप नहीं, बचपन से ही

प्रेम-पयोधि में गहरा गोता लगाने वाले हृदय के वियोग की तपती हुई मरुभूमि में निर्वासित किए जाने पर फूट निकलने वाले उद्गार हैं।

यह वह मनोदशा है, जो मानव को अहं की संकुचित परिधि से निकाल कर विश्व के पदार्थ मात्र से तादात्म्य स्थापित करने के योग्य बनाती है और प्रकृति के विभिन्न पदार्थों में प्राणप्रतिष्ठा कर उन्हें मानव का अनुभूतिशील हृदय प्रदान करती है। तभी तो कृष्ण के वियोग में कालिन्दी की ऐसी दशा हो जाती है कि वह विरहिणी गोपियों की उपमान बन जाती है—

"देखियति कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियो उन हरि सो भई विरह जुर जारी।
गिरि पुंजक तैं गिरति धेरनि धँसि तरँग तरफ तन भारी।
तट बाह उपचार चूर, जलपूर प्रस्वेद पनारी।
विगलित कच कुस काँस कूल पर, पंक जु काजल सारी।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, दिसि दिसि दीन दुखारी।
निसि दिन चकई पिय जु रटती है, भई मनौ अनुहारी।
'सूरदास' प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी।"

सूरदास ने अलंकारों के रूप में प्रकृति का बहुत ही अधिक प्रयोग किया है। उनकी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ बड़ी सुन्दर बन पड़ी हैं, और 'अद्भुत एक अनूपम बाग' वाला उनका पद तो अतिशयोक्ति-जगत् में अपना सानी ही नहीं रखता। परन्तु उनके अधिकांश उपमान परम्परा-प्राप्त एवं कवि-समय-सिद्ध हैं। प्रकृति के गिने-चुने स्वरूपों का ही उन्होंने बार-बार वर्णन किया है। कहीं-कहीं तो उपमा पर उपमा और उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा लादने की धुन में सूर की कल्पना हास्यास्पद ही हो गई है। 'हरि-कर राजत माखन रोटी' के प्रसंग में

'मनो बराह भूधर-सह पृथिवी धरी दसनन को कोटी' कह कर छोटी सी रोटी पर पहाड़ सहित पृथ्वी का बोझ लाद देना ऐसी ही बात है। किन्तु सूर के विशाल 'सागर' में विलीन हुआ यह दोष महाकवि कालिदास के—'अनेक गुणों की विद्यमानता में एक दोष इस प्रकार निमज्जित हो जाता है, जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों में उसका कलंक'—कथन की स्मृति दिलाता है।